ॐ

॥ परमात्मने नमः ॥

दृष्टि के निधान

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी; प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन तथा, आत्मज्ञ श्रीमद् राजचन्द्रजी के आत्महितकारी अमृत वचनों का संकलन

गुजराती संकलनकार :

नागरदास मोदी,

उमेदभाई मोदी

(तत्कालीन गुजराती आत्मधर्म सम्पादक परिवार)

सोनगढ़, सौराष्ट्र

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

विक्रम संवत
2077

वीर संवत
2547

ई. सन
2021

—: प्रकाशन :—
फाल्गुन शुक्ल 2 (15 मार्च 2021)
श्री सीमन्धर भगवान प्रतिष्ठा सोनगढ़ (वि.सं. 1997)
की वार्षिक तिथि के उपलक्ष्य में

—: प्राप्ति स्थान :—
1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250 फोन : 02846–244334
2. श्री कुन्दकुन्द–कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई–400 056
फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046
www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग :
विवेक कम्प्यूटर
अलीगढ़।

प्रकाशकीय

'दृष्टि के निधान' नामक प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में प्रकाशन करते हुए, हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ में परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के 480; प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के 109 एवं आत्मज्ञ सत्पुरुष श्रीमद् राजचन्द्रजी के 198 वचनामृतों का संकलन किया गया है। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि ज्ञानी के एक वाक्य में अनन्त आगम रहा है। तो इन ज्ञानीत्रय के 787 वचनामृतों में क्या कुछ रहस्य नहीं आया होगा? प्रस्तुत ग्रन्थ में संग्रहित वचनामृतों में मोक्षमार्गी जीव की सम्यक् भूमिका / सत्पात्रता, वैराग्य, संसार की क्षणभंगुरता, आत्मस्वभाव की महिमा, दृष्टि का विषय आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का समावेश किया गया है। इस संकलित ग्रन्थ की लोकप्रियता इसी बात से सिद्ध है कि अनेक स्थानों पर इस ग्रन्थ के आधार पर सामूहिक स्वाध्याय किया जाता है।

इस ग्रन्थ का गुजराती भाषा में संकलन आज से अनेक वर्षों पूर्व तत्कालीन गुजराती आत्मधर्म के सम्पादक श्री नागरदास मोदी एवं श्री उमेदभाई मोदी, सोनगढ़ द्वारा किया गया था। प्रस्तुत ग्रन्थ की हिन्दी भाषी मुमुक्षु समाज में विशेष माँग को देखते हुए इस ग्रन्थ का यह प्रस्तुत संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। जिसका हिन्दी रूपान्तरण पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां द्वारा किया गया है।

सभी जीव पूज्य गुरुदेवश्री, पूज्य बहिनश्री एवं श्रीमद् राजचन्द्रजी द्वारा उद्घाटित जिनेश्वरदेव के मूल मार्ग को समझकर निज आत्महित में संलग्न हों, इसी भावना के साथ...

प्रस्तुत ग्रन्थ www.vitragvani.com पर उपलब्ध है।

ट्रस्टीगण,

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,

विलेपार्ला, मुम्बई

उपोद्घात

दृष्टि के निधान—पूज्य गुरुदेवश्री के हृदयोद्गारों के इस संकलन में आत्मा के सर्वस्वभूत त्रिकाली स्वभाव का रहस्य उन्होंने सरल भाषा में स्पष्ट किया है। एक-एक उद्गार में गागर में सागरवत् समस्त जिनागम का सार भर दिया है। यथार्थ रीति से समझ में आये तो अनन्त संसार को परित करने के लिये पूज्य गुरुदेवश्री का एक ही उद्गार पर्याप्त है।

पूज्य गुरुदेवश्री फरमाते थे कि सन्तों की वाणी मरे हुए को भी जीवन्त कर देती है, ऐसी जोरदार होती है। उनके प्रत्येक उद्गार में इस सत्य का दर्शन होता है। अनादि से मोह द्वारा मृतकवत् हो गये जीव को उनके हृदयोद्गार का अमृतपान सजीवन करता है और आत्मा के अद्भुत निधान की ओर उन्मुख कर अमर बनाता है।

अध्यात्म में पुनरुक्ति को गुण माना गया है। पूज्य गुरुदेवश्री के अनेक उद्गारों में समानता लगने पर भी प्रत्येक उद्गार में बदल-बदलकर आत्मा के त्रिकाली स्वभाव को ही उन्होंने घोंटाया है। किसी भी प्रकार से निज स्वरूप को भूले हुए जीव को अपना असली स्वरूप कैसे गम्य हो, इस लक्ष्यपूर्वक बारम्बार वह की वही बात थोड़ी भाषान्तर से समझायी है। इसलिए यहाँ पुनरुक्ति दोष समझनायोग्य नहीं है।

आत्मा स्वभाव से त्रिकाल मुक्त है, जन्म-मरण से रहित है और राग-द्वेष से भी रहित है तथा ज्ञान आदि अनन्त-अनन्त शक्तियों से सहित है। ऐसे शुद्ध स्वरूप को प्रत्येक उद्गार में बतलाने पर भी साथ ही साथ पर्याय में अनादि से जीव की कैसी भयंकर स्थिति तथा मोह द्वारा किस-किस प्रकार से जीव ठगा रहा है और कैसे-कैसे भीषण दुःख जीव अनादि से भोग रहा है, यह बात भी अनेक उद्गारों में स्पष्ट बतलायी है, जिससे जीव दृष्टि के विषय के बहाने भी शुष्क होने जाये तो उनकी वाणी के वज्र प्रहार उसे शुष्कता में जाने से रोकते हैं।

जो जीव अपने आत्मा को प्राप्त करना चाहता है, उसे दृष्टि के विषय का ज्ञान कराने के साथ-साथ, उसे संसार से अन्तर में कितना वैराग्य होता है, कषायों की कैसी उपशमता हुई होती है तथा वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु की कैसी भक्ति होती है, उसका ज्ञान भी अनेक

उद्गारों में पूज्य गुरुदेवश्री ने कराया है। इससे मुमुक्षु जीव को तत्त्व के अन्तर परिणमन के लिये पात्रतारूप वैराग्य, उपशम, भक्ति आदि भावों की उपेक्षा नहीं करके, उसका भी अपने जीवन में अनुसन्धान करनेयोग्य है, यह बात निरन्तर स्मरण में रखनी है।

इस संकलन के दूसरे विभाग में प्रशममूर्ति भगवती माता पूज्य बहिनश्री चम्पाबहिन के वचनामृत का संकलन किया गया है। उन्होंने भी आत्मा के त्रिकाली द्रव्यस्वभाव को गहराई से समझाने के साथ-साथ मोक्षार्थी जीवों को आत्मस्वरूप को बतलानेवाले देव-शास्त्र-गुरु के प्रति कैसी उत्कृष्ट भक्ति-अर्पणता होती है, यह प्रत्येक वचनामृत में बतलाकर साधक-जीवन में निश्चय-व्यवहार का कैसा सुमेल होता है, यह विस्तार से बतलाया है। प्रत्येक वचनामृत में पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति उन्होंने जो भक्ति-अर्पणता के भाव उछले हैं, उसका विचार ही मोक्षार्थी को भक्तिमार्ग का रहस्य समझाता है और निश्चय के एकान्त में दौड़ने जाते हुए जीव को विमुख करके अनेकान्तमार्ग का स्वरूप समझाता है।

मोक्षार्थी को अन्तर में अपना आत्मा ही सर्वस्व होने पर भी, बाहर में वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु सर्वस्व भासित होते हैं। मोक्षार्थी को इस जगत में वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु से उत्तम अन्य कोई पदार्थ भासित नहीं होता। आत्मसाधक जब तक पूर्णता न पावे, तब तक देव-गुरु-शास्त्र को अपने साथ के साथ ही रखता है। जैसे जिनमन्दिर में जिनदेव की स्थापना की जाती है, उसी प्रकार साधक के हृदय में वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु निरन्तर विराजमान हैं और इसीलिए साधक जीव संसार में कहीं भी नहीं फँसते हुए निर्विघ्नरूप से निर्वाण तक पहुँच जाते हैं। यह सब देव-शास्त्र-गुरु का ही प्रताप है। साधक की अध्यात्म साधना के साथ भक्ति की गंगा का प्रवाह जो निरन्तर बह रहा है, उसका स्पष्ट-स्पष्ट चित्रण पूज्य बहिनश्री के वचनामृतों में दृष्टिगोचर होता है।

मुमुक्षु जीव को आत्मा की कैसी तीव्र लगन होती है, शुभाशुभभाव आने पर भी उसकी कितनी गहरी खटक होती है, अनादि के अनजाने पन्थ के कारण मार्ग प्राप्त करने में पहले मुमुक्षु को कितनी ही उलझन होने पर भी उसमें से किस-किस प्रकार मार्ग निकालकर आगे बढ़ना, मुमुक्षु-जीवन में देव-शास्त्र-गुरु की कैसी भक्ति-अर्पणता हो—इत्यादि का वर्णन करके पूज्य बहिनश्री ने मुमुक्षु जीवों पर महान उपकार किया है।

इस संकलन के तीसरे विभाग में समीप समयवर्ती आत्मज्ञ श्रीमद् राजचन्द्रजी के वचनामृत दिये गये हैं। गृहस्थाश्रम में रहकर आत्मार्थ किस प्रकार साधना, इस विषय में

आपने आत्मार्थपोषक अगत्य का मार्गदर्शन प्रदान किया है तथा सत्समागम की असाधारण महिमा अनेक वचनामृतों में गायी है, वह अत्यन्त योग्य है। अनादि के अनजाने आत्मपन्थ में जाने में सत्पुरुष का साक्षात् योग ही एक आधार है। अनेक वचनामृतों में उन्होंने पात्रतावर्धक बोध दिया है, जो मुमुक्षु जीवन के एक नींव समान है। उसके ऊपर भी उन्होंने वजन दिया है। आपश्री के वचनामृत का गहरा मन्थन अवश्य आत्मार्थ की सिद्धि प्रदान करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने तो वर्तमान काल में अध्यात्म का युग सर्जन कर मोक्षार्थी जीवों पर अनन्त-अनन्त उपकार किया है। पूज्य बहिनश्री के भक्तिमय आध्यात्मिक जीवन से उपकृत होकर मुमुक्षु समाज उनका अत्यन्त ऋणी है। श्रीमद् राजचन्द्रजी के वचनामृत से भी मुमुक्षु समाज अत्यन्त प्रभावित है। तीनों महापुरुषों को अत्यन्त भक्तिभावपूर्वक कोटि-कोटि वन्दन करते हैं।

इस संकलन में हमसे जाने-अनजाने कुछ भी भूल हो गयी हो तो उसके बदले तीनों महापुरुषों से अन्तःकरण से क्षमायाचना करते हैं। मुमुक्षु पाठक हमारी भूल को सुधारकर पठन करें, यह हमारी नम्र प्रार्थना है।

निवेदक
संकलनकार

अनुक्रमणिका

(1)	पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के हृदयोद्गार	1-71
(2)	पूज्य बहिनश्री वचनामृत	73-108
(3)	श्रीमद् राजचन्द्र के वचनामृत	110-140

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्यर्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक – इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्‌गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको निःशंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अतः अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का**

श्रावक हूँ। सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अतः भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर,

पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित

सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्‌चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

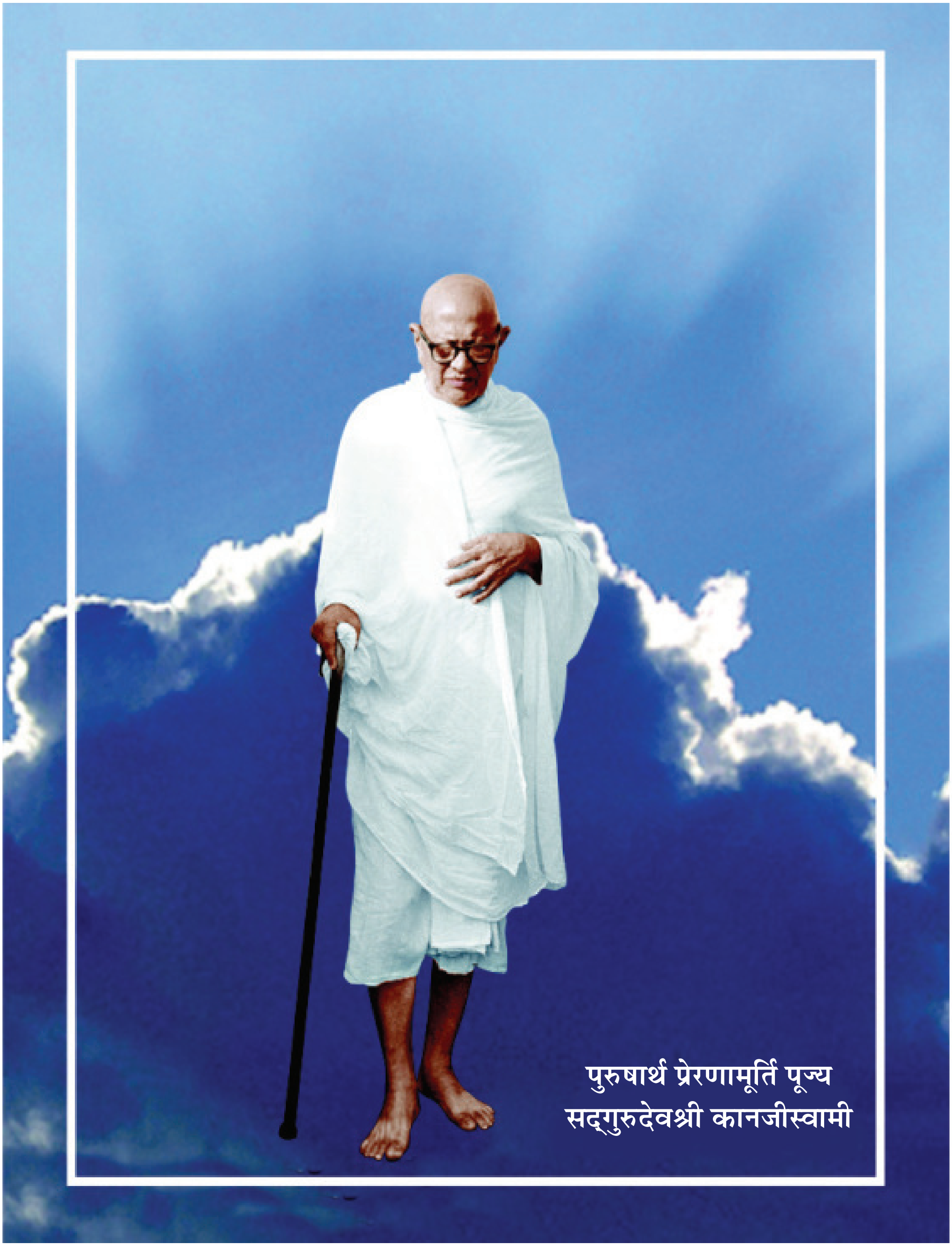
पुरुषार्थ प्रेरणामूर्ति पूज्य
सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

ॐ

श्री परमात्मने नमः

दृष्टि के निधान

—: प्रथम विभाग :—

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के हृदयोद्‌गार)

- वीतराग सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा, सौ इन्द्रों की उपस्थिति में समवसरण में लाखों-करोड़ों देवों की हाजिरी में ऐसा फरमाते थे कि 'तू परमात्मा है, ऐसा निर्णय कर', भगवान! आप परमात्मा हो, इतना तो हमें निर्णय करने दो!—कि यह निर्णय कब होगा?—कि जब तू परमात्मा है, ऐसा अनुभव होगा, तब यह परमात्मा है —ऐसा व्यवहार तुझे निर्णीत होगा। निश्चय का निर्णय हुए बिना व्यवहार निश्चित होगा नहीं। (1)
- अहो! सभी जीव वीतरागमूर्ति हैं। जैसे हैं, वैसे होओ। दूसरे को मारना, यह तो कहीं रह गया; दूसरे का तिरस्कार करना, यह भी कहीं रह गया, परन्तु सभी जीव सुखी होओ; हमारी निन्दा करके भी सुखी होओ, हम जैसे हैं, वैसा जानकर भी सुखी होओ; चाहे जैसे भी सुखी होओ!... प्रभु का प्रेम तो ला भाई! तुझे प्रभु होना है। (2)
- मार धड़ाक पहले से! तू पामर है या प्रभु है! तुझे क्या स्वीकार करना है! पामरता स्वीकार करने से पामरता कभी नहीं जायेगी। प्रभुपना स्वीकार करने से पामरता खड़ी नहीं रहेगी! भगवान आत्मा—मैं स्वयं, द्रव्य से परमेश्वर स्वरूप ही हूँ—ऐसा जहाँ परमेश्वरस्वरूप का विश्वास आया तो तू वीतराग हुए बिना रहेगा ही नहीं। (3)
- अहो! मैं ही तीर्थंकर हूँ, मैं ही जिनवर हूँ, मुझमें ही जिनवर होने के बीज पड़े हैं।

परमात्मा का इतना उल्लास... कि मानो परमात्मा से मिलने जाता हो! परमात्मा बुलाते हों कि आओ... आओ... चैतन्यधाम में आओ! चैतन्य का इतना आह्लाद और प्रह्लाद हो! चैतन्य में मात्र आह्लाद ही भरा है, उसकी महिमा, माहात्म्य, उल्लास, उमंग, असंख्य प्रदेश में आना चाहिए। (4)

- अरे भाई! तेरे जैसा कोई धनाढ्य नहीं! तेरे अन्तर में परमात्मा विराजता है, इससे विशेष धनाढ्यपना क्या हो सकता है? ऐसा परमात्मपना सुनने पर उसे अन्दर से उल्लास उछलना चाहिए। उसकी लगन लगना चाहिए। उसके लिये पागल हो जाना चाहिए। ऐसे परमात्मस्वरूप की धुन लगना चाहिए। सच्ची धुन लगे तो जो स्वरूप है, वह प्रकट हुए बिना कैसे रहे? अवश्य प्रकट हो ही। (5)
- हे भव्य! तू शरीर को न देख! राग को न देख! एक समय की पर्याय को न देख! तेरे पास पूर्णानन्द प्रभु स्थित है, उसे देख। अरे भगवान! तू पूर्णानन्दस्वरूप समीप में ही स्थित है, वह दूर कैसे रह सकता है?—ऐसे दिगम्बर सन्तों की वाणी मार-फाड़ करती—झपकारा करती आती है कि तेरे समीप में पूर्णानन्द प्रभु स्थित है, उसे तू आज ही देख! आज ही स्वीकार कर और हाँ पाड़! हाँ पाड़ने से हालत हो जाये, ऐसा तू पूर्णानन्द का नाथ है। (6)
- भाई! तू विश्वास ला!—कि मेरे स्वभाव के आनन्द के समक्ष समस्त प्रतिकूलता और दुनिया विस्मृत हो जाये, ऐसी अद्‌भुत वस्तु मैं हूँ। मैं वर्तमान में परमात्मा ही हूँ, मुझे और परमात्मा को कुछ अन्तर नहीं है—ऐसा विश्वास आने पर अन्तर छूट जायेगा और पर्याय में परमात्मा प्रगट हो जायेगा। (7)
- शास्त्रों के शब्द बिना हृदय उकेल हो जाना चाहिए। उठाव मूल में से आना चाहिए। कोई कम समझता हो, उसका कुछ नहीं... अन्य सर्व विकल्प छूट जाये और अन्दर से आत्मा सम्बन्धी ही विचार चला करे और लगे ही रहें। पूरी सत्ता का ज्ञान में घोलन चलता है, प्रयोग तो इसे ही करना पड़ता है... विश्वास आना चाहिए। दूसरी-दूसरी चिन्ताएँ हों तो यह कहाँ से चले?... इसका अभ्यास बारम्बार चाहिए। (8)

- अरे प्रभु! तू स्वभाव से परमेश्वर है। तेरी विरुद्ध की बातें आते करते शर्म आती है! अनादर नहीं आता! कहाँ तेरी शुद्धता और कहाँ यह विकारीभाव—मिथ्यात्व-संसार! अरे! कहाँ नीम के अवतार! निगोद में अवतार! अरे! तू भगवान स्वरूप! भगवान तू कहाँ गया! तेरा विरोध नहीं प्रभु! तुझसे विरुद्ध भाव का विरोध है। जिसकी माँ खानदानी पुत्री, जिसकी आँख ऊँची न हो, उसका पुत्र वेश्या में जाये—इसी प्रकार यह परिणति प्रभु की, जो अपने स्वरूप को छोड़कर विकार में जाये, प्रभु! शर्म आती है। (9)
- वास्तव में तो ऐसा अवसर मिला है, उसमें स्वयं अपना कर लेनेयोग्य है। दुनिया की आलोचना करने जायेगा तो अपना खोयेगा! स्वयं अपनी भूल टालनी है। वस्तुस्वरूप समझकर भूल टाले तो भगवान हो जाये! (10)
- आहाहा! पूरी दुनिया विस्मृत हो जाये, ऐसा तेरा परमात्मतत्त्व है। अरे रे! तीन लोक का नाथ होकर राग में रुक गया। राग में तो दुःख की ज्वाला सुलगती है, वहाँ से दृष्टि छोड़ दे! और जहाँ सुख का सागर भरा है, वहाँ तेरी दृष्टि जोड़ दे! राग को तू भूल जा! तेरे परमात्मतत्त्व को पर्याय स्वीकार करती है, परन्तु उस पर्यायरूप मैं हूँ, यह भी भूल जा। अविनाशी भगवान के समक्ष क्षणिक पर्याय का मूल्य क्या? पर्याय को भूलने की बात है, वहाँ राग और देह की बात कहाँ रही? आहाहा! एक बार तो मुर्दा खड़ा हो जाये, ऐसी बात है अर्थात् कि सुनते ही उछलकर अन्तर में जाये, ऐसी बात है। (11)
- आहाहा! तीन लोक के नाथ मानो सामने खड़े हों और कहते हों कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कुछ भी नहीं करता—ऐसे फाट... फाट... फाट... प्याले की तरह दो द्रव्यों की भिन्नता बताते हैं। अहो! ऐसी वीतराग की बातें सुननेवाले लोग भाग्यशाली। साक्षात् भगवान कहते हों, वैसे सन्त शास्त्र द्वारा कहते हैं। (12)
- जिस प्रकार श्वान के कान में कीड़ें पड़ें और उसका लक्ष्य बारम्बार वहाँ ही जाया करता है; उसी प्रकार जिसे आत्मा प्राप्त करना है, उसका लक्ष्य बारम्बार आत्मा के सन्मुख हुआ करता है। आत्मा की धुन चला करे। दूसरी धुन तो अनन्त काल से चढ़

गयी है तो एक बार आत्मा की धुन तो जगा! और छह महीने तो प्रयत्न कर! बारम्बार अन्तर्मुख का प्रयत्न कर तो अवश्य तुझे आत्मा की प्राप्ति होगी। (13)

- एक बार पर के लिये तो मर जाना चाहिए। पर में मेरा कुछ अधिकार ही नहीं। अरे भाई! तू राग को और रजकण को कर नहीं सकता! ऐसा ज्ञाता–दृष्टा पदार्थ है। ऐसे ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव की दृष्टि कर, चारों ओर से उपयोग को समेटकर एक आत्मा में ही जा। (14)
- भगवान जिनेन्द्र सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि आयी। उसमें सिंहनाद आया! क्या आया? कि हे जीव! तू सच्चिदानन्द परमात्मस्वरूप है। प्रभु! तू स्वयं परमात्मस्वरूप मेरी जाति का ही है। बकरियों के झुण्ड में सिंह मिल गया हो, वैसे शुभाशुभभाव में भगवान मिल गया है, उसे भगवान सर्वज्ञ का सिंहनाद आया कि तू मेरी जाति का भगवानस्वरूप है, ऐसा जान! (15)
- भाई! तेरे माहात्म्य की क्या बात! जिसका स्मरण होते ही आनन्द आवे, उसके अनुभव के आनन्द की क्या बात! अहो! मेरी ताकत कितनी! जिसमें नजर डालने से निधान खुल जाये, वह यह वस्तु कैसी! राग को रखने का तो मेरा स्वभाव नहीं। परन्तु अल्पज्ञता को भी मैं रख नहीं सकता—ऐसा इसे प्रतीति में आने पर, मैं सर्वज्ञ होऊँगा और अल्पज्ञ नहीं रह सकूँगा, ऐसा इसे भरोसा आ जाता है। (16)
- भाई! तू पंचम काल में भरतक्षेत्र में और गरीब घर में जन्मा है, इसलिए हमारे आजीविका आदि का क्या करना, ऐसा न देख! तू अभी और जब देखे तब सिद्धसमान ही है। जिस क्षेत्र में और जिस काल में जब देखे, तब तू सिद्धसमान ही है। मुनिराज को खबर नहीं होगी कि सब जीव संसारी है? भाई! संसारी और सिद्ध, वह तो पर्याय की अपेक्षा से है; स्वभाव से तो वे संसारी जीव भी सिद्धसमान शुद्ध ही हैं। (17)
- मैं लायक नहीं... लायक नहीं—ऐसे इसके नकार से बात अटकी है, परन्तु इसे अन्दर से ऐसा आना चाहिए कि मैं इस क्षण ही परमात्मा होने के योग्य हूँ—ऐसा अन्दर से विश्वास आना चाहिए। इस बात की जो हाँ करता है, अन्दर से हकार

आता है, उस जीव को राग से पृथक् पड़ने की शुरुआत हो गयी है। पृथक् पड़ता जाता है। इसलिए नैगमनय से पृथक् पड़ गया है, ऐसा शास्त्र में कहा है। (18)

- जैसे लड़का रोता हो, उसे उसका पिता कहता है, भाई! तू रो नहीं! देख, तेरा पेड़ा पूरा ऐसा का ऐसा ही है, देख! प्रसन्न हो! उसी प्रकार आचार्यदेव भव्य को कहते हैं कि हे आत्मा! तू प्रसन्न हो! खुशी हो! देख! तेरा आत्मा तीनों काल ऐसा का ऐसा शुद्ध ही है, देहादि या रागादि आत्मा को स्पर्शे ही नहीं हैं, स्पर्शे ही नहीं हैं। रागादि तो ऊपर-ऊपर लोटते हैं। इसलिए भाई! तू प्रसन्न हो! और प्रसन्न होकर देख! तेरा आत्मा शुद्ध चैतन्यघन ही है। (19)
- जीव आत्मा के गुण गाते-गाते भगवान हो जाता है। कोई क्रियाकाण्ड करते-करते भगवान नहीं हुआ जाता परन्तु गुणी ऐसे भगवान के गुण गाते—महिमा करते-करते भगवान हो जाता है। अनन्त गुणों की महिमा करते-करते अनन्त जीव केवली हो गये। अनन्त गुणरत्नों के कमरे खुल्ले हो गये। भाई! तू पामर नहीं, परन्तु भगवान है, उसके स्वरूप का गुणगान कर। (20)
- पानी पीने से तृषा मिटती है, आहार करने से भूख मिटती है, दवा पीने से रोग मिटता है—इस प्रकार संसार में सभी चीज़ों का जीव विश्वास करता है। उस विश्वास के बल से उन-उन चीज़ों को प्राप्त करने में लक्ष्य जाता है। उसी प्रकार आत्मा का विश्वास आना चाहिए कि मैं स्वयं ही ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ। मैं स्वयं ही परमात्मस्वरूप हूँ और रागादि स्वरूप नहीं—ऐसा अन्तर से विश्वास का बल आना चाहिए। अपनी परमेश्वरता का विश्वास... विश्वास... इस विश्वास का जोर इसे अन्तर्मुख ले जाता है। (21)
- जिज्ञासु को पहले ऐसा निर्णय होता है कि मैं मोक्ष प्राप्त करने के योग्य ही हूँ। शंका को स्थान नहीं होता। शिथिल-पतली बात आत्मा के लिये नहीं करना। अनन्त गुणों से समृद्ध है, उसे देखना, तू ही देवाधिदेव है, ऐसा लेना। (22)
- आनन्द का नाथ ऐसे शुद्धात्मा की बात प्रेम से सुनता है, उसे भावी निर्वाण का भाजन कहा है। उसे सुनते हुए देह से भिन्न हूँ, कर्म से भिन्न हूँ, राग से भिन्न हूँ और

अपने से परिपूर्ण हूँ, यह बात उसे बैठनी चाहिए। हकार आना चाहिए। उसमें कुछ उलझन जैसा नहीं है। सुनकर हाँ करने से हकार आने से अन्दर में संस्कार पड़ते जाते हैं। (23)

- सिद्धनगर में अनन्त सिद्ध विराजते हैं। उन्होंने पहले बाहर से नजर समेटकर अन्दर का विस्तार किया था। तू भी बाहर से संकुचित कर दे। मैं तो पूर्ण अभेद परमात्मा ही हूँ, मुझे और परमात्मा को कुछ अन्तर नहीं है—ऐसा अन्तर निकाल डालनेवाले को अन्तर छूट जायेगा। आहाहा! दिगम्बर सन्तों की कथनशैली अलौकिक है।(24)
- शरीर के एक-एक अंगुल में ९६-९६ रोग हैं, यह शरीर क्षण में दगा देगा, क्षण में छूट जायेगा। किंचित् सुविधा हो, वहाँ घुस जाता है, परन्तु भाई! तुझे कहीं जाना है, वहाँ किसका मेहमान होगा? कौन तेरा परिचित होगा? इसका विचार करके तेरा तो कुछ कर ले! शरीर अच्छा हो, वहाँ तक आँख उघड़े नहीं और क्षण में देह छूटने पर अनजाने स्थान में चला जायेगा! छोटी-छोटी उम्र के भी चले जाते हैं, इसलिए तेरा कुछ कर ले! शास्त्र में कहा है कि जब तक वृद्धावस्था न आवे, शरीर में व्याधि जब तक न आवे और जब तक इन्द्रियाँ शिथिल न पड़ें, तब तक आत्महित कर लेना।(25)
- अहा प्रभु! तू पूरा है, तेरे प्रभुत्व आदि एक-एक गुण पूर्ण हैं। तेरी शक्ति की क्या बात करना! तू किसी गुण से अधूरा नहीं है। पूरा-पूरा है। तुझे किसके आधार की आवश्यकता है? आहाहा! इसे ऐसी धुन चढ़नी चाहिए। पहले ऐसे स्वभाव का विश्वास आना चाहिए। पश्चात् दृष्टि और अनुभव होता है। (26)
- योगीन्द्रदेव कहते हैं कि अरे जीव! अब तुझे कहाँ तक संसार में भटकना है? अभी तू थका नहीं? अब तो आत्मा में आकर आत्मिक आनन्द को भोग! आहाहा! जैसे पानी का धोरिया बहता हो, वैसे यह धर्म के धोरिया बहते हैं। पीना आवे तो पी भाई! अच्छे काल में तो कल का लकड़हारा हो, वह आज केवलज्ञान पावे, ऐसा वह काल था। जैसे पुण्यशाली को कदम-कदम पर निधान निकलते हैं, उसी प्रकार आत्मपिपासु को पर्याय-पर्याय में आत्मा में से आनन्द के निधान मिलते हैं। (27)
- जिसे वास्तव में आत्मा की रुचि जगे, उसे चौबीस घण्टे वह का वह चिन्तन, घोलन

और खटक रहा ही करे। नींद में भी वह का वह रटन चला करता है। अरे! नरक में पड़ा हुआ नारकी भीषण वेदना में पड़ा हुआ हो और पूर्व में सत् सुना हो, उसका स्मरण करके एकदम अन्दर में उतर जाता है, उसे प्रतिकूलता बाधक ही नहीं न! और स्वर्ग की अनुकूलता में पड़ा हो तो भी अनुकूलता का लक्ष्य छोड़कर अन्दर में उतर जाता है। और यहाँ जरा सी प्रतिकूलता हो तो अरे! मुझे ऐसा है और वैसा है— ऐसा कर-करके अनन्त काल गँवाया! अब उसका लक्ष्य छोड़कर अन्दर में उतर जा न, भाई! इसके बिना दूसरा कोई सुख का मार्ग नहीं है। (28)

- अरे आत्माओं! तुम साधारण हो, ऐसा न मानो। जिसे पूर्णदशा प्रगट हो गयी है, ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा यह कहते हैं कि अरे जीवो! तुम मेरी नात और जाति के पूर्ण प्रभु हो, उसे तुम न्यून या हीन न मानो। अन्तर में पूर्ण प्रभु है, ऐसा मानो! (29)
- सम्पूर्ण सिद्धान्त का सार में सार तो बहिर्मुखता छोड़कर अन्तर्मुख जाना, वह है। श्रीमद् ने कहा है न! 'उपजे मोह विकल्प से समस्त यह संसार, अन्तर्मुख अवलोकते विलय होत नहीं वार।' ज्ञानी के एक वचन में अनन्त गम्भीरता भरी है। अहो! भाग्यशाली होगा, उसे इस तत्त्व का रस आयेगा और तत्त्व के संस्कार गहरे उतरेंगे। (30)
- भाई! एक बार हर्ष तो ला कि अहो! मेरा आत्मा ऐसा परमात्मस्वरूप है, ज्ञानानन्द की शक्ति से भरपूर है, मेरे आत्मा की सामर्थ्य नष्ट नहीं हो गयी। 'अरे रे! मैं हीन हो गया, विकारी हो गया... अब मेरा क्या होगा?' ऐसे डर नहीं, उलझ नहीं, हताश नहीं हो... एक बार स्वभाव का उत्साह ला... स्वभाव की महिमा लाकर तेरी सामर्थ्य को उछाल! (31)
- क्रमबद्ध माननेवाला आनन्द की दृष्टिपूर्वक राग को दुःखरूप जानता है, उसे राग की मिठास उड़ गयी है। जिसे राग में मिठास पड़ी है और पहले अज्ञान में राग को टालने की चिन्ता थी, वह भी क्रमबद्ध... क्रमबद्ध... करके मिट गयी है, उसे तो मिथ्यात्व की पुष्टि बढ़ी है। मिथ्यात्व को तीव्र किया है। राग मेरा नहीं, ऐसा कहे और आनन्दस्वरूप की दृष्टि नहीं तो उसने तो मिथ्यात्व को बढ़ाया है। भाई! यह तो कच्चे पारे जैसा वीतराग का सूक्ष्म रहस्य है। अन्तर से पचावे तो वीतरागता की पुष्टि

हो और उसका रहस्य न समझे तो मिथ्यात्व को पुष्ट करे। (32)

- जैसे मिट्टी के कोरे बर्तन में पानी की बूँद पड़ने पर पानी चुस जाता है, पानी दिखाई नहीं देता परन्तु अधिक पानी पड़ने पर पानी बाहर दिखाई देता है; उसी प्रकार इस परमात्मतत्त्व की बात सुनते-सुनते मैं ज्ञायक हूँ... ज्ञायक हूँ... ऐसे दृढ़ संस्कार अन्दर में डाले तो मिथ्यात्वभाव का रस मन्द पड़ता जाता है। अभी भूमिका मिथ्यात्व की है, परन्तु मिथ्यात्व का अभाव होने के संस्कार पड़ते जाते हैं। शुभभाव से मिथ्यात्व का रस भव्य-अभव्य को अनन्त बार मन्द पड़ा है, परन्तु इस ज्ञायक के संस्कार से मिथ्यात्वभाव का अभाव होने के संस्कार पड़ते हैं। फिर एकदम स्वभाव का आश्रय लेने से, स्वानुभव होने से मिथ्यात्व का अभाव होता है। (33)
- मुझे बाहर का कुछ चाहिए, ऐसा माननेवाला भिखारी है। मुझे मेरा आत्मा ही चाहिए, ऐसा माननेवाला बादशाह है। आत्मा अचिन्त्य शक्ति का धनी है। जिस क्षण जगे, उसी क्षण जागती ज्योत आनन्दस्वभाव अनुभव में आ सकता है। (34)
- पशु की विष्टा के पोहटा मिलने पर गरीब स्त्रियाँ प्रसन्न हो जाती हैं और धन-वैभव मिलने पर सेठिया प्रसन्न-प्रसन्न हो जाते हैं। परन्तु विष्टा के पोहटा और धनादि में कुछ अन्तर ही नहीं है। एक बार आत्मा के निधान को देखे तो बाहर के निधानों की निर्मूल्यता भासित हो। (35)
- आत्मा जहाँ अन्दर से उछला। फिर मन शिथिल पड़े तो भी उछलना बन्द नहीं पड़ता। इन्द्रियाँ शिथिल हों तो भी उछलना बन्द नहीं पड़ता। शरीर शिथिल पड़े तो भी उछलना बन्द नहीं पड़ता। आहाहा! जहाँ मध्यबिन्दु में से उछला, फिर उसे रोकने में जगत का कोई पदार्थ समर्थ नहीं है। (36)
- चक्रवर्ती को अपनी विशाल सम्पत्ति छोड़ना भी सरल है और भिखारी को अपना एक सकोरा छोड़ना मुश्किल लगता है। आत्मस्वरूप समझ में आये, तब चक्रवर्ती की सम्पत्ति और सकोरा दोनों समान पुद्गल भासित होते हैं। (37)
- तीर्थंकर, चक्रवर्ती, और बलदेव जैसे पुण्य के धनी, कि जिनकी देव सेवा करते थे तथा किसी बात की कमी नहीं थी, लोग जिसे भगवान समान मानते थे—ऐसा पुण्य

और वैभव होने पर भी 'मुझे यह कुछ नहीं चाहिए'—इस प्रकार सर्व की उपेक्षा करके एक आत्मा को साधने के लिये वन-जंगल में चल निकले। आहाहा! उन्हें यह आत्मा कैसा आश्चर्यकारी और विस्मयकारी लगता होगा! (38)

- जैसे जमीन जरा खोदते हुए चरू की खान नजर पड़े तो कितना प्रसन्न हो जाये! दो अँगुल के अन्तर में अन्दर कलश हो तो जहाँ ऊपर का पड़ उखेड़ते हुए अकेले हीरा ही नजर पड़ते हैं; उसी प्रकार राग के साथ की एकता तोड़कर देखे तो आत्मा में अकेले हीरे ही भरे हैं। जैसे कलश देखने पर प्रसन्न होता है; उसी प्रकार इस आत्मा में चैतन्य हीरा की खान देखने पर आनन्द... आनन्द... हो जाता है। (39)
- सिंह चारों ओर घूमता हो और जैसे नींद न आवे; हथियारबन्ध पुलिस स्वयं को मारने के लिये घूमती हो और जैसे नींद न आवे; उसी प्रकार तत्त्वनिर्णय न करे, तब तक इसे (आत्मार्थी को) सुख से नींद भी नहीं आती। (40)
- भाई! यह सत् समझे बिना तीन काल-तीन लोक में कहीं तेरा अन्त आनेवाला नहीं है। चाहे महाव्रत पाल, चाहे भक्ति करके मर जा, चाहे करोड़ों मन्दिर बना, चाहे टोकरे बजा। परन्तु तेरा भव का अन्त आनेवाला नहीं। मिथ्याश्रद्धा में अनन्त निगोद के और नरक के भव करने की सामर्थ्य है। (41)
- हमारा चैतन्य उपयोग घात ही नहीं होता। घात हो, उसे उपयोग ही नहीं कहते। परन्तु प्रभु! केवलज्ञान नहीं न? केवलज्ञान का काम ही क्या है? केवलज्ञान की खान हाथ में आ गयी है, उसे केवलज्ञान आयेगा ही। (42)
- अहो! एक बार देह छूटने के अवसर का विचार करे तो इसे खबर पड़े कि अरे! वह यह क्या क्रीड़ा है! वह (आत्मा) परमेश्वर और फँसा इसमें (शरीर में)!! (43)
- बाहर से मर जाये, उसके लिये यह धर्म है। बाहर से मेरा जीवन नहीं; राग से और पर से जीवन, वह तो मेरा मरण है। जो पर से और राग से मर जाये, उसके लिये यह धर्म है। (44)
- यह तो अन्तर में से आयी हुई बातें हैं और ऐसा ही है। कुन्दकुन्दाचार्य और सीमन्धर भगवान की भेंट प्रत्यक्ष होकर आयी हुई बातें हैं। अध्धर-अध्धर की बातें नहीं।

वह... यह बातें करोड़ों और अरबों रुपये देने पर भी मिले, ऐसी नहीं है। चक्रवर्ती के राज्य देवे तो भी मिले, ऐसी नहीं है। (45)

- कितनों को ऐसा लगता है कि यह हैसियत उपरान्त की बात है! अरे! हैसियत उपरान्त की क्या? एक समय में केवलज्ञान ले, इतनी इसकी हैसियत है। यह तो हाथी पर फूल रखने जैसी हल्की बात है। (46)
- कर्म का उदय भविष्य में कैसा आयेगा? ऐसा न देख! परन्तु मैं भविष्य में ऐसा आऊँगा (होऊँगा) कि पुरुषार्थ लागू पड़ गया तो क्षण में केवलज्ञान लाऊँगा। (47)
- जिसके जन्म-मरण की गाँठ गली नहीं, उसने जीवन में कुछ किया ही नहीं और जिसने गृहस्थाश्रम में भी जन्म-मरण की गाँठ गला दी है, उसने सब कर लिया है। सिद्ध भगवान उसके हाथ में आ गये हैं। (48)
- अनुभव तत्काल करनेवाले की संख्या भले थोड़ी हो परन्तु उसकी श्रद्धा दृढ़ करके पक्ष करनेवाले और उसका ही घुँटन करके अल्प काल में काम करनेवाले जीव थोड़े ही कैसे कहलायें? वे तो बहुत होते हैं। (49)
- छह खण्ड का धनी चक्रवर्ती विचार करता है कि अहो! आनन्द का कारण मैं स्वयं एक हूँ और यह सब दुःख के कारण—निमित्त हैं,... इस प्रकार वैराग्य होने पर... चोटियाँ खींचती रानियों को कहते हैं कि अरे! अब हमको तुम सबके प्रति का राग जल गया है, हमारे आनन्द का कारण हमारे पास है, उस आनन्द को खोलने के लिये हम चल निकले हैं। हम आनन्द के भँवर, आनन्द की पराग लेने अन्दर में जाते हैं, हमारे आनन्द की हिलोर की छलक हमारे अन्तर में से आती है। उसने अन्दर में कुछ देखा होगा न? कि जिसके समक्ष यह सब सड़े हुए तिनके समान लगता है। (50)
- स्व के लक्ष्य का मार्ग अलौकिक है। यह तो वीतराग का मार्ग है। वीतराग कहते हैं कि तू मेरे सन्मुख न देख। यह वीतराग के अतिरिक्त दूसरा कौन कह सकता है? (51)
- अग्नि के अंगारे में पड़ा परन्तु डिगाया डिगे नहीं, ऐसा आत्मा है। अहो! हमें अग्नि स्पर्शी ही नहीं। अग्नि में पड़ा हुआ भी धर्मी जीव आनन्द को वेदन करता है। (52)
- मिथ्यात्व, अविरति आदि पाँच भाव बन्ध का कारण है। वह नाश हो, तब मुक्ति

होती है, ऐसा नहीं। परन्तु उनके अभावरूप मुक्तस्वरूप ही स्वभाव है। (53)

- एक ओर भ्रमणा है तथा एक ओर भगवान है। (54)
- वस्तु पृथक् है, उसे दृष्टि में पृथक् करना। फिर चाहे जहाँ हो तो भी पृथक् का पृथक् ही है। वही मोक्ष का मार्ग है; दु:ख से छूटने का दूसरा मार्ग नहीं है... दूसरी बात रहने दे, भाई! (55)
- जिसे अतीन्द्रिय आनन्द की लालच लगी है, वह स्थिरता के लिये वृत्तियों को समेटता है। आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की जिसे लालच लगी है, वही आनन्द की लालच से आत्मा में खिंचता है। पहले दृष्टि में आत्मा में आनन्द की लालच लगी है। हठ से कुछ करना नहीं परन्तु अतीन्द्रिय आनन्द के लालच के कारण आत्मा में स्थिरता करता है। (56)
- अरे! इसे कभी इसकी दया आयी नहीं। इसकी दया इसने कभी की नहीं। दया की कब कहलाये ?—कि स्वभावभाव, वह मेरा और विभावभाव, वह मेरा नहीं; जैसा स्वभाव है, वैसा उसे रखे, तब इसने उसकी दया की (—ऐसा) कहलाये। (57)
- बबूल के वृक्ष के नीचे बैठे हुए मुनि, जिन्हें शरीर के ऊपर वस्त्र नहीं, गर्म-गर्म हवा लगती है परन्तु अन्दर में आनन्द की झनझनाहट बज रही है, वे सुखी हैं। दूसरे को ऐसा लगे कि यह बाबा है, परन्तु वह बाबा नहीं, बादशाह है। चक्रवर्ती हो तो भी वह दुखिया है, बादशाह नहीं। (58)
- पूरी दुनिया चाहे जैसे हो परन्तु मेरा भगवान तो मेरे पास ही है। मुझे तो सदा लाभ ही है। अलाभ की बात ही मेरे नहीं। (59)
- मुझे (निश्चय से) अरिहन्त आदि का शरण लेने का नहीं है, परन्तु आत्मा का शरण लेने से उसमें वह सब आ जाते हैं। इसलिए आत्मा ही शरणरूप है। अरहन्त अर्थात् वीतरागी पर्याय, सिद्ध अर्थात् वीतरागी पर्याय, आचार्य, उपाध्याय और साधु अर्थात् वीतरागी पर्याय—यह सब वीतरागी पर्यायें मेरे आत्मा में ही पड़ी हुई है, इसलिए मुझे अन्यत्र कहीं नजर करनी नहीं है। मुझे ऊँची आँख करके अन्यत्र कहीं देखना नहीं है। मेरा आत्मा ही मुझे शरणरूप है। (60)

- महा भगवान अन्दर में स्थित है—वह मुझे दु:ख का नाश करने के समय शरणरूप है... दृष्टि को समेटकर अन्दर में करनी है। (61)
- योग्यता, काललब्धि, क्रमबद्ध आदि सबका ज्ञान द्रव्यदृष्टि करने से सच्चा होता है। रुचि रखे पर में और क्रमबद्ध और काललब्धि पर डाले, यह नहीं चलता। पोपाबाई का राज नहीं है। (62)
- यह बात समझने में अनन्त पुरुषार्थ चाहिए। अन्दर में बहुत पात्रता चाहिए। सर्वत्र से सुखबुद्धि उड़ जाना चाहिए। इसकी पात्रता बहुत चाहिए। इसकी पर्याय में बहुत योग्यता चाहिए। श्रीमद् कहते हैं कि तू तेरे दोष से दु:खी हो रहा है। तेरा दोष इतना कि पर को अपना मानना और अपने को भूल जाना। (63)
- इकलौता जवान लड़का मर जाये और उसे कैसी चोट लग जाती है, इसी प्रकार इसे चोट लगनी चाहिए। राग और संयोग की आड़ में तू स्वयं मर जाता है, इसकी तुझे चोट लगती है कुछ? (64)
- तीन लोक का नाथ! तुझे दूसरे का आश्रय लेना पड़े, यह तो तुझे कलंक है। (65)
- बादशाह तीन लोक का नाथ नींद में पड़ा है। उसे जगाने की यह बात है। जाग के जाग। उसे चोर लूट जाते हैं। जाग रे... जाग..! यह जगानेवाली बात सुनने को मिले, वह भी महाभाग्यशाली है। (66)
- अरे! एक वाळा शरीर में निकलने पर पीड़ा का पार नहीं रहता। तो यह मेरा शरीर, मेरा घर, मेरी स्त्री, पुत्र, मित्र, यह मेरा धन, इज्जत, ऐसे अनेक मेरे अर्थात् कि धनवाला, शरीरवाला, स्त्री-पुत्र-मित्रवाला ऐसे अनेक वाळा की पीड़ा का इसे भान नहीं है, परन्तु पीड़ित है। (67)
- ज्ञान में जैसे-जैसे समझण द्वारा भावभासन बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे ज्ञान का सामर्थ्य बढ़ता जाता है और वह बढ़ते जाने से ज्ञानसामर्थ्य द्वारा मोह शिथिल होता जाता है। ज्ञान जहाँ सम्यक्रूप परिणमता है, वहाँ मोह समूल नाश पाता है; इसलिए ज्ञान से ही आत्मा की सिद्धि है। ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कोई आत्मसिद्धि का साधन नहीं है। (68)

- तेरी होशियारी तो तब कहलाये कि भाई! तू परमेश्वर है, ऐसी तेरी परीक्षा कर। (69)
- बबूल के वृक्ष के नीचे बैठे हुए नग्न-दिगम्बर मुनि शान्त... शान्त... शान्तरूप से— जिनकी मुद्रा में शान्ति... शान्ति... दिखती है, उन्हें रास्ते के ऊपर चला जा रहा चक्रवर्ती हाथी से उतरकर पैरों में पड़ता है और कहता है कि प्रभु! यह हमको प्राप्त ऋद्धि हमें नहीं चाहिए। आप जो ऋद्धि साध रहे हैं, वह ऋद्धि हमें होओ। (70)
- अहो! मुनि-सन्त जहाँ मनुष्य हों, वहाँ से तो चले गये परन्तु उनका पगरव भी न हो, ऐसे एकान्त स्थान में चले गये हैं। आत्मा का शोधन करने गये। यह तो आत्मा का शोधन करने का काल है, परन्तु पर की ओर राग की शोध में पूरी जिन्दगी चली जाती है। (71)
- यह काई के खोदड़ा के गोदड़ा पड़े हैं, उनमें एक राई जितनी कणी में अनन्त भगवान पड़े हैं। ऐसे तो कितने ही समुद्र और नदियाँ और पूरे लोक में ठसाठस निगोद के जीव भरे हैं। वे सब भी भगवान हैं। अहो! इन सबको बड़ा मानने में वास्तव में अपनी—आत्मा की महत्ता है।(72)
- यह चैतन्य तत्त्व तो कोई अगम्य वस्तु है। बाहर के वैराग्य से या ज्ञान के क्षयोपशम से मिल जाये, ऐसी वस्तु नहीं है। अन्तर में अव्यक्त, तथापि प्रगट अचिन्त्य वस्तु पड़ी है, उसके माहात्म्य के प्रति जाये, तब गम्य होती है। उसके जन्म-मरण टल जाये, ऐसी चीज़ है। (73)
- परद्रव्य को और आत्मा को अत्यन्त अभाव है, वह तो व्यवहार की नीति के वचन से आता है। परन्तु अध्यात्मदृष्टि से तो विकार के और आत्मा के अत्यन्त अभाव है। चैतन्य गोला विकार से भिन्न अकेला पृथक् ही पड़ा है, उसे देख। जैसे तेल पानी के प्रवाह में ऊपर का ऊपर तैरता है, पानी के दल में प्रविष्ट नहीं होता; उसी प्रकार विकार चैतन्य के प्रवाह में ऊपर का ऊपर तैरता है; चैतन्य दल में प्रविष्ट नहीं होता। (74)
- एक बार अन्दर में नजर कर कि मैं भी सिद्ध की भाँति अशरीरी हूँ। शरीर को स्पर्शता ही नहीं, अभी ही शरीर से पृथक् हूँ। ऐसी श्रद्धा नहीं करे तो जब शरीर से पृथक् पड़ेगा, तब उसकी लार शरीर में ही लम्बायेगी। (75)

- एक ओर एक समय की भूल है और एक ओर त्रिकाली पूरा भगवान है। वस्तु में अनन्त-अनन्त गुण का महान अस्तित्व पड़ा है, उसकी दृष्टि करने से विकल्प टूट जाते हैं, परन्तु विकल्प को तोड़ने जाने से तो मिथ्यात्व होता है। (76)
- भगवान आत्मा दु:ख की दशा में आया है, परन्तु दु:ख को टालने का सामर्थ्य रखकर दु:ख की दशा में आया है। जब उसकी शक्ति—सामर्थ्य का भान करे, तब दु:ख की दशा से छूटता है। (77)
- दया-दान-पूजा-भक्ति-शास्त्र वांचना, सुनना आदि के शुभभाव और धन्धा, स्त्री, पुत्र, खाने-पीने आदि के अशुभभाव—इन सब भावों से आत्मा तीनों काल रहित होने पर भी, इनसे सहित मानना, यही संसार में भटकने का—नरक-निगोद का महाबीज है। (78)
- समुद्र के मध्य में वडवाग्नि होती है, परन्तु समुद्र उसे भिन्नरूप से रखता है। समुद्र अपने को चूसने नहीं देता। उसी प्रकार चैतन्य समुद्र रागादि को भिन्न रखता है। एकरूप होने नहीं देता। (79)
- पाँच पद शरणरूप हैं अर्थात् कि पाँच पदरूप अपना आत्मा ही शरणरूप है। कहा है न! कि वर्तमान में सिद्धदशा तो नहीं, तो सिद्ध का ध्यान कैसे होगा! झूठ-मूठ है। अरे! अन्दर में शक्तिरूप सिद्धस्वभाव तो वर्तमान में मौजूद है और इसके लिये उसका ध्यान करने से प्रत्यक्ष शान्ति का वेदन आता है। आत्मा स्वभाव से त्रिकाल शुद्ध स्वरूप ही है। (80)
- वर्तमान-वर्तमान वर्तती चालू काल की ज्ञानपर्याय वह त्रिकाली ज्ञायक का ही एक अंश है, उसे अन्तर में झुकाने से 'चैतन्य हीरा' ज्ञान में आता है। अवयव द्वारा अवयवी ख्याल में आता है। ज्ञान की पर्याय को अन्तरोन्मुख करके देखे, तो तेरा चैतन्यसूर्य तुझे ख्याल में आयेगा। उसका प्रकाश तुझे दिखाई देगा। (81)
- अरे! इसे रुदन भी आया नहीं कि मुझे मेरा विरह! (82)
- इन्द्रिय के विषय में जो आनन्द मानता है, वह तो जहर का प्याला पीता है। (83)
- शक्कर में अकेली मिठास ही भरी है, उसी प्रकार आत्मा में अकेला आनन्द ही भरा

है। उसका एक क्षण विश्वास करे तो आनन्द का झरमर... झरमर... झरना झरता है, वर्षा बरसती है, इसे सुप्रभात कहते हैं। (नूतन वर्ष के प्रात:काल) (84)

- देह तो रोग की मूर्ति है और भगवान आत्मा आनन्द की मूर्ति है। मृतक देह में भगवान अमृत का सागर मूर्च्छित है। भाई! एक बार तू तुझे देख, दूसरे को देखने में अन्ध हो जा और तुझे देखने में हजार आँखों से तुझे देख। (85)
- पर्याय का अन्तर तोड़ने के लिये द्रव्य-गुण में अन्तर नहीं है, ऐसी दृष्टि करने से पर्याय का अन्तर टूटकर परमात्मा होता है। (86)
- (जिस प्रकार) अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र के तल में मात्र रत्न ही भरे हैं, रेत नहीं है; उसी प्रकार भगवान आत्मा के तल में—सत्त्व में अकेली चैतन्य शक्तियोंरूप रत्न ही भरे हैं। उसके तल में रेत अर्थात् रागादि नहीं है। (87)
- बापू! यह तो पचाकर परिणमित कराने की बात है। वाद-विवाद की बात नहीं। वाद-विवाद में मौन हो जाना पड़े... शास्त्र में ऐसा लिखा है और वैसा लिखा है... यह तो वीतरागता खड़ी करने की बात है। (88)
- अहो! आत्मा तो अनन्त विभूतियों से भरपूर, अनन्त गुणों की राशि, अनन्त गुणों का विशाल पर्वत है! चारों ओर गुण ही भरे हुए हैं, अवगुण एक भी नहीं है। 'ओहो! यह मैं!'—इस प्रकार ऐसे आत्मा के दर्शन के लिये जीव ने कभी वास्तविक कौतुहल ही नहीं किया। (89)
- कहीं विरोध जैसा हो, वहाँ नहीं जाना चाहिए और कदाचित् जाने का हो जाये तो मौन रहना चाहिए। यह अन्तर का मार्ग तो ऐसा है कि सहन करन लेना चाहिए। विरोध में पड़ना नहीं। अपना गुड़ स्वयं चोरी से अर्थात् गुप्त रीति से खा लेना चाहिए। आवाज करने जैसा काल नहीं है। अपना सम्हाल लेने योग्य है। वाद-विवाद में उतरनेयोग्य नहीं है। (90)
- अहो! आनन्द का समुद्र अपने अन्तर में उछलता है, उसे तो जीव देखता नहीं और तृणवत् तुच्छ विकार को ही देखता है! अरे जीवों! ऐसे अन्तर में नजर करके समुद्र को देखो!.. चैतन्य समुद्र में डुबकी लगाओ! (91)

- भगवान की मूर्ति की भाँति भगवान के आगम का बहुमान चाहिए। आगम, वह मुनियों का अक्षर देह है। (92)
- श्रीमद् राजचन्द्र तो कहते हैं कि मुमुक्षुओं को आजीविका जितना मिलता हो तो विशेष प्रवृत्ति नहीं करना; यह तो रोटियाँ मिलती हों तो भी सिर पर पोटला बाँधे! अरे रे! जाना है कहाँ? जीवन थोड़ा और यह क्या करता है भाई! ऐसा मनुष्यभव मिला है और ऐसे सत् समझने का अवसर है तो चार-छह-आठ घण्टे वाँचन, श्रवण, मनन सत्समागम करके तेरे आत्मा का कुछ हित कर और मानव-भव सफल कर। (93)
- ...यह शरीर के खेल देखो! निरोग शरीर क्षण में रोगरूप परिणम जाता है। शरीर के रजकण जिस काल में जैसे होनेवाले हों, वैसे होंगे ही, उसमें कौन फेरफार कर सकता है? शरीर के परमाणुओं को कैसे रहना, इसका तुझे क्या काम है? तुझे कैसे रहना, उसका तू सम्हाल न! (94)
- शास्त्र में शुभराग को अशुचि कहा है। आहाहा! शरीर की अशुचि तो कहीं रह गयी! यहाँ तो शुभराग का व्यवहार, उसे भी अशुचि कहा है। (95)
- अरे प्रभु! तेरा कभी मरण ही नहीं होता न, क्यों डरता है? अतीन्द्रिय आनन्द में जा! प्रभु! तुझे शरीर ही नहीं और रोग से कैसे डरता है? जन्म, जरा और रोगरहित भगवान आत्मा है, वहाँ जा!—ऐसा जिनवर, जिनवाणी और गुरु कहते हैं। तू जन्म-जरा-मरणरहित प्रभु है, वहाँ दृष्टि दे! तुझे जन्म-जरा-मरणरहित होना हो तो जन्म-जरा-मरणरहित भगवान अन्दर विराजता है, वहाँ जा! वहाँ दृष्टि देकर स्थिर हो! (96)
- स्वसमय और परसमय के साथ वाद-विवाद करना योग्य नहीं है। तू तेरे आत्मा का अनुभव कर। पर के साथ विवाद में पड़नेयोग्य नहीं है। निधान पाकर निज वतन में जाकर भोगने को कहा है; इसलिए अपनी निधि पाकर स्वयं अकेले भोगनेयोग्य है। (97)
- जब स्त्री का पति मर जाता है और बाई विधवा होती है, तब दुनिया उस स्त्री को दुखियारी कहती है। परन्तु वास्तव में वह स्त्री दुखियारी नहीं परन्तु उसे आत्मा का

(हित) करने को निवृत्ति मिली है। यहाँ दुखियारी अर्थात् दुःखी उसे कहते हैं कि जो राग में और पुण्य-पाप के भाव में एकता मानकर आनन्दकन्दस्वभाव है, उसे भूल गया है, वह वास्तव में दुखियारा अर्थात् दुखिया है। जगत से भगवान का मार्ग अलग है। (98)

- आत्मा को सदा ही ऊर्ध्व अर्थात् मुख्य रखना। चाहे जो प्रसंग आवे परन्तु द्रव्यस्वभाव को मुख्य रखना। शुभाशुभपरिणाम आवे भले, परन्तु कायम द्रव्यस्वभाव का ध्येय रखना। आत्मा को मुख्य रखने से जो दशा होती है, उस निर्मलदशा को साधन कहा जाता है और उसका साध्य केवलज्ञान करना, वह है और उसका ध्येय पूर्ण आत्मा है। कषाय की मन्दता या ज्ञान के उघाड़ की मुख्यता होगी, उसकी दृष्टि संयोग पर जायेगी। आत्मा की ऊर्ध्वता की रुचि और जिज्ञासा हो, उसका प्रयास हुए बिना रहता ही नहीं। आत्मा के अनुभव के पहले भी सच्ची जिज्ञासा होती है, उसे अव्यक्तरूप से आत्मा की ऊर्ध्वता होती है। अभी आत्मा जानने में आया नहीं, परन्तु अव्यक्तरूप से ऊर्ध्वता होती है और अनुभव में आवे, तब व्यक्त-प्रगट ऊर्ध्वता होती है। (99)
- अरे भाई! तुझमें किस ऋद्धि की कमी है कि पर के सामने झपट्टे मारता है? तेरे सामने अनन्त ऋद्धिवाला प्रभु विराजता है, उसके सामने नजर डालता नहीं और पर के सामने नजर डालकर पुण्य-पाप के दुःख को अनुभव करता है! दया-दान-भक्ति आदि के शुभ व्यवहार में विस्मयता करता है, वह विस्मयता छोड़कर तेरे सामने में विस्मयकारी चैतन्य प्रभु विराजता है, उसके सामने देख। तेरी प्रभुता की विस्मयता करके उसमें स्थिर हो। तेरे उस आनन्द के बाग में विहार कर, अन्य द्रव्य में विहार न कर। (100)
- लक्ष्मण को शक्ति लगने पर रात्रि के रामचन्द्र आदि विशल्या की कितनी झंखना से राह देखते हैं कि कब विशल्या आवे! कब आवे! उसी प्रकार इस मरे हुए चैतन्य को जागृत करने के लिये ज्ञान के स्वभाव को जैसा है, वैसा जानने की गहरी झंखना जागृत होनी चाहिए। (101)
- मृतक कलेवर में मूर्च्छित ऐसा अमृत-आनन्दस्वरूप आत्मा अपनी ओर नजर भी

नहीं करता। अपनी ओर नजर करने से, सुखरूप अमृत से भरपूर पूर्ण समुद्र को निहारने से, देखने से, अवलोकन करने से, देखने से, मानने से और उसमें स्थिर होने से तृप्त होता है, ऐसी चीज़ स्वयं ही है। (102)

- आत्मा जितना और जैसा महान पदार्थ है, उतना महान मानना, वही आत्मा की दया पालनेरूप समाधि है और ऐसे महान आत्मा को रागादि जितना मानना या मतिज्ञान आदि चार अल्पज्ञ पर्याय जितना मानना, वह आत्मा की हिंसा है। (103)
- अरे! ऐसे चमत्कारी स्वभाव की बात स्व के लक्ष्य से सुने तो मिथ्यात्व का भुक्का उड़ जाये, ऐसी यह बात है। (104)
- दुष्कर लगे तो भी इसके अतिरिक्त चार गति का भटकना नहीं टलता, बापू! ज्ञान की जो वर्तमान पर्याय है, उस पर अनादि का लक्ष्य है, परन्तु उसके समीप में जो परम पुरुष निकट विराजता है, जो सर्वोत्कृष्ट प्रभु है, उसका लक्ष्य कभी किया नहीं, इसलिए अब उस पर्याय को वहाँ अन्तर में झुका, भाई! (105)
- नरक के नारकी को स्वर्ग के सुख की गन्ध नहीं; स्वर्ग के देव को नरक के दुःख की गन्ध नहीं; राग में धर्म की गन्ध नहीं; परमाणु में पीड़ की गन्ध नहीं; सूर्य में अन्धकार की गन्ध नहीं और सुखस्वभाव में संसार-दुःख की गन्ध नहीं। (106)
- **मुमुक्षु** - शुद्धनिश्चय का पक्ष तो करना न?

  पूज्य गुरुदेवश्री - पक्ष करना अर्थात् क्या? अनुभव में जाने से पहले ऐसा पक्ष आता है कि 'मैं शुद्ध चैतन्यमूर्ति ही हूँ, पुण्य-पापभाव, वह मैं नहीं।'—ऐसा विकल्पसहित निर्णय पहले आता है। परन्तु वह मूल परमार्थ वस्तु नहीं है। पहले शुद्धनिश्चयनय का पक्ष आता है, होता है परन्तु अन्दर स्वानुभव से निर्णय करना, वह मूल वस्तु है। (107)
- कहीं रुकना नहीं। विकल्प की कुछ भी खटक रहा करेगी, वहाँ तक अन्दर नहीं जा सकेगा। अभी जवानी है, इसलिए कमा लें—यह रहने दे, बापू! मौत सिर पर नगाड़ा बजाती है। बाद में करूँगा... बाद में करूँगा... ऐसा रहने दे। अन्दर में कुछ भी विकल्प रहेगा कि यह करूँ... यह करूँ—ऐसा वायदा करेगा तो अन्दर जा नहीं सकेगा। (108)

- बाहर में उत्साह नहीं करना, भाई! यह सब तो क्षणभंगुर है और अनन्त बार मिला है। बाहर में सर्वस्व माना गया है, उसे पलटकर अनन्त गुण का पिण्ड आत्मा, वह मेरा सर्वस्व है, ऐसा मान। भगवान पूर्णानन्द का नाथ चैतन्य की जलहल ज्योति है। उसका परिणमन हो, वह जीव का जीवन है। पुण्य-पाप और उसके फल में सर्वस्व मानता है, वह असाध्य—बेसुध हो गया है। इसलिए अब बाहर में सर्वस्व माना गया है, उसे पलटकर स्व में सर्वस्व मान। (109)

- **मुमुक्षु** - आप बहुत सूक्ष्मता और बहुत गहराई में ले जाते हो।

  पूज्य गुरुदेवश्री - वस्तु ही ऐसे स्वभाववाली है। पर्याय ऊपर-ऊपर है और द्रव्य गहरा... गहरा है। अनन्त... अनन्त... गहराई है। क्षेत्र से नहीं परन्तु भाव से अनन्त... अनन्त... सामर्थ्यरूप गहराई है। वहाँ ज्ञानपर्याय को धीरज से ले जाने पर भगवान की भेंट होती है। (110)

- यह ज्ञान की दिव्यता है! यह ज्ञानस्वभाव की अचिन्त्यता है! कि जो पर्यायें विद्यमान नहीं, तथापि ज्ञान उन्हें विद्यमानरूप से जानता है; तो चैतन्य महाप्रभु तो विद्यमान ही है, भूतार्थ ही है, उसे ज्ञान विद्यमानरूप से कैसे नहीं जानेगा? वस्तु सत् है न! विद्यमान है न! तो उस महाप्रभु को तू विद्यमानरूप से जान न! आहाहा! जिसकी अस्ति नहीं, उसे अस्ति जाने! तो पूर्णानन्द का नाथ प्रभु वर्तमान विद्यमान ही है, मौजूद ही है, उसे जान न! भाई! तेरी नजर के आलस से विद्यमान प्रभु को देखना रह गया। जिसमें ज्ञान-आनन्द आदि गुणों की अनन्तता का अन्त नहीं, ऐसा सच्चिदानन्द प्रभु विद्यमान ही है, उसे जान। (111)

- क्रमबद्धपर्याय का सिद्धान्त, वह तो सर्व आगम के मन्थन का सार है। वह बात यहाँ से (पूज्य गुरुदेवश्री से) बाहर आयी है। इससे पहले यह बात हिन्दुस्तान में कहीं नहीं थी। क्रमबद्ध, वह परम सत्य है। जिस काल में जो होना है, वही होगा। उसे इन्द्र, नरेन्द्र या जिनेन्द्र भी बदलने को समर्थ नहीं है। क्रमबद्ध में अकर्तापना सिद्ध करते हैं। इसके संस्कार डाले होंगे, वह स्वर्ग में जायेगा और वहाँ से समकित प्राप्त करेगा। (112)

- जिसकी सत्ता का कभी विरह नहीं, जिसकी सत्ता की कभी अपूर्णता हुई नहीं, जिसकी सत्ता किसी से दबी नहीं—ऐसी जो त्रिकाल निरावरण वस्तु है, उसके ऊपर नजरबन्दी होना चाहिए।—द्रव्य पर दृष्टि की नजरबन्दी होना चाहिए। मुझे मेरे अतिरिक्त अन्य किसी का आश्रय नहीं है—ऐसे ध्रुव पर नजरबन्दी हो जानी चाहिए। (113)

- चैतन्य के लक्ष्य बिना जो कुछ किया, वह सब सत्य से विपरीत होता है। सम्यग्ज्ञान की कसौटी पर चढ़ाते हुए उसकी एक भी बात सच्ची नहीं निकलती। इसलिए जिसे आत्मा में अपूर्व धर्म करना हो, उसे अपनी मानी हुई पूर्व की सभी बातें अक्षर-अक्षर मिथ्या थी, ऐसा समझकर, ज्ञान का पूरा झुकाव बदल डालना पड़ेगा। परन्तु यदि अपनी पूर्व की बात को खड़ी रखे और पूर्व की मानी हुई बातों के साथ इस बात की तुलना करने जाये—जो अनादि की जो गड़बड़ चली आयी है, वह निकलेगी नहीं और यह नया अपूर्व सत्य उसे समझ में आयेगा नहीं। (114)

- **मुमुक्षु** - आप जो बात समझाते हो, वह बात तो बराबर सच्ची ही है, परन्तु उससे समाज को क्या लाभ होगा?

  पूज्य गुरुदेवश्री : देखो, भाई! पहली बात तो यह है कि स्वयं अपना देखना है। समाज का चाहे जो हो, उसकी चिन्ता छोड़कर स्वयं अपना सम्हालना। मध्य समुद्र में डुबकी खाता हो, तब समाज की या परिवार की चिन्ता करने में नहीं रुकता। परन्तु मैं समुद्र में से डुबते हुए कैसे बचूँ?—इसके लिये ही उपाय करता है। उसी प्रकार संसार समुद्र में भटकते हुए महामुश्किल से मनुष्य भव मिला है, तब मेरे आत्मा का हित कैसे हो, मेरा आत्मा संसार-भ्रमण से कैसे छूटे, यही देखने का है। पर की चिन्ता में रुकेगा तो आत्महित चूक जाएगा। यह बात तो अपने हित करने की ही है। प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है; इसलिए समाज के दूसरे जीवों को हित हो तो ही अपना हित हो सके, ऐसी कोई पराधीनता नहीं है। इसलिए हे जीव! तू तेरे हित का उपाय कर। (115)

- जिसे सच्ची श्रद्धा प्रगट हो, उसका पूरा अन्तर बदल जाता है, हृदय का पलटा होता है, अन्तर में उथल-पुथल हो जाती है। अन्ध में से सूझता होता है, अन्तर की ज्योति

जगे, उसकी दशा की दिशा पूरी बदल जाती है। जिसे अन्तर पलटा होता है, उसे किसी को पूछने नहीं जाना पड़ता। उसका अन्तर बेधड़क पड़कार करता हुआ साक्षी देता है कि हम अब प्रभु के मार्ग में सम्मिलित हुए हैं। सिद्ध का सन्देश आ चुका है। अब अल्प काल में सिद्ध होंगे ही। उसमें दूसरा कुछ होगा नहीं, अन्तर पड़ेगा नहीं। (116)

- हजारों वर्ष के शास्त्र पठन से भी एक क्षण का स्वानुभव बढ़ जाता है। जिसे भव समुद्र से तिरना हो, उसे स्वानुभव की विद्या सीखनेयोग्य है। (117)
- 'मैं शुद्ध हूँ, राग भी मेरा स्वरूप नहीं'—ऐसी अकेली अध्यात्म की बात आवे, वह सुनना अच्छी लगे और वैराग्य भावनाओं के श्रवण, चिन्तन में उत्साह न आवे तो वह शुष्क है। अन्तरस्वभाव सन्मुख के ज्ञान के साथ वैराग्य भावनायें भी होती हैं। अन्तर का शुद्धस्वभाव जिसे रुचि में आया, उसे पर्याय में राग घटने पर वैराग्य भावनायें आती हैं। (118)
- बाह्य क्रिया से निर्जरा नहीं है। पंचम गुणस्थानवाला श्रावक एक मास के उपवास करे, उस समय जो निर्जरा होती है, उसकी अपेक्षा मुनि को निद्रा के समय या आहार के समय निर्जरा विशेष है। इसलिए अकषाय परिणाम प्रमाण निर्जरा होती है, बाह्य प्रवृत्ति पर उसका आधार नहीं है। (119)
- आत्मा की श्रद्धा में सात तत्त्व की श्रद्धा आ जाती है, परन्तु इस छल से कोई सामान्यरूप से स्व-पर को जानकर अथवा आत्मा को जानकर कृतकृत्यता माने तो वह भ्रम है। पुण्य-पाप, दया, दानादि विकार हेय है, यह जाने बिना आत्मा का ज्ञान सच्चा नहीं होता। बन्ध के फल को हितकर माने, वह बन्ध को हितकर मानता है। ऐसा कोई जीव मात्र आत्मा को सामान्यरूप से जाने और कहे कि मेरा कार्य पूरा हो गया तो वह भ्रमणा है। (120)
- अहो! महान सन्त मुनिश्वरों ने जंगल में रहकर आत्मस्वभाव के अमृत प्रवाहित किये हैं। आचार्यदेव धर्म के स्तम्भ हैं, जिन्होंने पवित्र धर्म को टिका रखा है। गजब काम किया है। साधकदशा में स्वरूप की शान्ति वेदते हुए परीषहों को जीतकर

परम सत् को जीवन्त रखा है। आचार्यदेव के कथन में केवलज्ञान की भणकार बज रही है। ऐसे महान शास्त्रों की रचना करके बहुत जीवों पर अमाप उपकार किया है। रचना तो देखो! पद-पद में कितना गम्भीर रहस्य है! यह तो सत्य की प्रसिद्धि है। इसके संस्कार अपूर्व चीज़ है और यह समझण तो मुक्ति के वरण का श्रीफल है। समझे उसका मोक्ष ही है। (121)

- भगवान तो कहते हैं कि जिसे चैतन्य आत्मा का भान नहीं, पूर्णानन्द का नाथ अन्दर में विराजता है, उसकी जिसे श्रद्धा नहीं, वे सब चलते मुर्दे हैं। और उनके व्रत, तप आदि सब मूर्खता से भरपूर है और जिसे पूर्णानन्द भगवान की श्रद्धा है, ज्ञान है, भान है, वह संसार में रहा होने पर भी चलता सिद्ध है। (122)
- यह लोक पूरा भगवान के समूह से भरपूर गोदाम है। प्रत्येक जीव स्वभाव से भगवान है। देह देवल में भगवान जिनेन्द्रदेव विराजते हैं। (123)
- अहो! सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा के प्रदेश-प्रदेश में आनन्द का जन्म होता है। असंख्य प्रदेश आनन्द से उछलते हैं, आननद का जन्म-धाम निज परमात्मतत्त्व, वह सम्यग्दर्शन का कारण है। (124)
- आत्मा समझने के लिये जिसे अन्तर में वास्तविक धगश और चटपटाहट जगे, उसे अन्तर में समझण का मार्ग हुए बिना रहता ही नहीं। अपनी धगश के बल से अन्तर का मार्ग करके वह आत्मस्वरूप को पता ही है। (125)
- अनन्त प्रतिकूल द्रव्य आ पड़े, उससे आत्मा हिलाया हिलता नहीं; तीव्र में तीव्र कठोर अशुभपरिणाम हों, उनसे भी ध्रुव आत्मा हिलाया नहीं जाता और एक समय की पर्याय से भी आत्मा हिलाया नहीं हिलता। ऐसा अगाध सामर्थ्यवाला ध्रुव आत्मा है, उसे लक्ष्य में लेने से भवभ्रमण छूटे, ऐसा है। (126)
- राग से पृथक् हूँ,... राग से पृथक् हूँ... स्वभाव से एकमेक हूँ.. स्वभाव से एकमेक हूँ.. ऐसे संस्कार तो पाड़! ऐसे दृढ़ संस्कार द्वारा भेदविज्ञान की प्राप्ति होती है। (127)
- भाई! तुझे प्राप्त करने के लिये तेरी श्रुतज्ञान की पर्याय ही बस है। दूसरा यह करूँ और वह करूँ, यह बात ही नहीं है। यह तो सीधी-सट्ट बात है। अन्तर के प्रेम द्वारा

(रुचि द्वारा) इस ज्ञान को अन्तर में झुकाने से इस पर्याय को द्रव्य का आलम्बन मिलता है और आनन्द के स्रोत बहते हैं। (128)

- देव-शास्त्र-गुरु ऐसा कहते हैं कि भाई! तेरी महिमा तुझे आवे, उसमें हमारी महिमा आ जाती है। तेरी तुझे महिमा आती नहीं तो तुझे हमारी भी वास्तव में महिमा आयी नहीं, हमको तूने पहिचाना नहीं। (129)
- भाई! तू स्वयं ही भगवान है। देहदेवल में विराजता परमात्मा है। भगवान, वही मैं और मैं, वही भगवान—ऐसी दृष्टि हुए बिना किसी को सम्यग्दर्शन तीन काल-तीन लोक में नहीं होता। (130)
- जीव की दया पालने के भाव को लोग जैन के संस्कार मानते हैं, परन्तु वे जैन के सच्चे संस्कार नहीं हैं। जैन के सच्चे संस्कार तो राग से भिन्न चैतन्य को मानना, वह जैन के सच्चे संस्कार कहलाते हैं। 'जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म, यही वचन से समझ ले, जिनप्रवचन का मर्म।' (131)
- यदि तू तेरे चैतन्यभाव की कीमत करेगा तो पर की कीमत उड़ जायेगी। फिर भले इन्द्र के इन्द्रासन या चक्रवर्ती के राज्य हों, तो भी उसकी कीमत उड़ जायेगी। (132)
- मक्खी जैसा प्राणी फिटकरी पर चिपकता नहीं और मिश्री पर बैठे तो मिठास के कारण पंख टूटे तो भी उखड़ता नहीं। इसी प्रकार ज्ञानी को चैतन्य के आनन्द के स्वाद की मिठास के समक्ष इन्द्र-चक्रवर्ती के भोग भी दुर्गन्धमय सड़े हुए मुर्दे के समान लगते हैं। इसलिए विषयों को आकुलता के कारण जानकर फिटकरी की भाँति विषयभोग में चिपकते नहीं और मिश्री की मिठास की भाँति अतीन्द्रिय आनन्द में से ज्ञानी उखड़ते नहीं। (133)
- दूसरे के दुःख सुनकर बहुत बार सुननेवाले को वैराग्य हो जाता है, परन्तु वह वैराग्य सच्चा नहीं है। जीव को दुःख अप्रिय है, इसलिए दुःख की बात सुनने में आने पर उदासीनभाव आ जाता है, परन्तु इससे ऐसा नहीं समझना कि उसे संसार से वास्तविक वैराग्य हुआ है; उसे चक्रवर्ती की ऋद्धि सुनकर हर्ष होता है। संसार से सच्चे विरक्तभाववाले को तो चक्रवर्ती की ऋद्धि का वर्णन या नारकी के दुःख का वर्णन

दोनों में संसार का दुःख समान ही लगता है, दोनों ओर समान ही उदासीन भाव होता है। (134)

- अन्याय से उपार्जन की हुई लक्ष्मी, बलात्कार से लायी हुई स्त्री के समान लम्बे काल टिकेगी नहीं। पति के गुण प्रेम से आकर्षित स्त्री कायम रहेगी। उसी प्रकार न्याय से उपार्जित लक्ष्मी लम्बे काल टिकी रहेगी। नीति, वह वस्त्र समान है और धर्म, वह गहने समान है। कपड़े बिना गहने शोभा नहीं देते, इसी प्रकार नीति बिना धर्म शोभा नहीं पाता। (135)
- जो कोई दुष्कर है, कठिन है, वह मन्द वीर्यवाले के लिये है, निर्बल के लिये है; वीर के लिये कुछ भी दुष्कर या कठिन नहीं। (136)
- स्व वीर्य का उल्लास जोश बन्ध ऐसा निकाल कि जैसा है, वैसा स्वरूप प्रगट करके ही रहे। आत्मा का स्वरूप प्रगट करने में एक समयमात्र का भी प्रमाद न कर। आहाहा! यह अवसर बारम्बार नहीं मिलेगा, इसलिए जल्दी पहुँच जा। (137)
- अनन्त काल हुआ, जीव कषाय के वेग से दौड़ रहा है, परन्तु उसे अभी थकान नहीं लगती। यदि थकान लगे तो उसे उलझन हो और उलझन हो तो उसकी उलझन टले। (138)
- अनन्त बार जीव ने छह-छह महीने के उपवास किये। चमड़ी उतारकर नमक छिड़कने पर भी आँख का कोना लाल किया नहीं। अरे! मन से भी क्रोध नहीं किया, तथापि जो निरावलम्बन भाव समझना चाहिए, वह रह गया। (139)
- अज्ञानी जीने के लक्ष्य से जी रहे हैं, इसलिए उन्हें मरण नहीं रुचता। मरण आवे परन्तु उसे जीने का लक्ष्य रहा करता है। ज्ञानी तो मरने के लक्ष्य से ही जीते हैं अर्थात् पूर्व से अजमाईश और प्रयोग तैयार कर रखे, फिर उस मरण का आनन्द से सत्कार कर लेते हैं। उन्हें मरण के अन्तिम समय बहुत महोत्सव के होते हैं, इसलिए आनन्द से देह को छोड़ते हैं। जीने के भाव से तो अनन्त बार जिया, परन्तु मरने के भाव से किसी समय जिया नहीं। मरने के भाव से जीवे तो फिर उसे जन्म लेना ही न पड़े। (140)

- जिसे जहाँ प्रेम लगता है, वहाँ वह झुक जाता है, खप जाता है। जिसे मनुष्यरूप से आत्मा... आत्मा... हो गया है, उसे आत्मा प्रगट होगा ही। जिसने आत्मा को जाना है, उसने आत्मभाव को सामने किया है। उसे दूसरा कुछ तीन काल में मुख्य हो, ऐसा नहीं है। उसे अब कोई चौदह ब्रह्माण्ड में विघ्न करनेवाला नहीं। जिसने अपना आत्मजीवन पहले किया है, उसे अब तीन काल में वह जीवन ही पहला (मुख्य) रहनेवाला है। (141)
- जिसने अतीन्द्रिय आनन्द अनुभव किया है, उसे बिना आहार के भी अलौकिक आनन्द आता है। उसे देह और संसार छोड़ना, वह तो खेल मात्र की बात है। (142)
- पंच परमेष्ठी के प्रेम की अपेक्षा इस शरीर पर भी यदि प्रेम बढ़ जाये तो वह अनन्तानुबन्धी का लोप है। (143)
- अज्ञानी कहते हैं कि बाद में करूँगा... बाद में करूँगा—ऐसा अभ्यास (वायदा) जिसने कर रखा है, उसे मरण के समय भी बाद में रहनेवाला है। क्योंकि जिसने बाद में... बाद में... का सिद्धान्त कर रखा है, उसे फिर बाद में अभी करूँ—ऐसा नहीं आयेगा। और ज्ञानी को तो ऐसा लगता है कि यह शरीर छूटने के समय बहुत जोर पड़ेगा, तो उसमें जितनी जोर है, उतना जोर आत्मा का भी उसके सामने चाहिए। इसलिए ज्ञानी को ऐसा लगता है कि मेरे भाव को इस क्षण में तैयार करूँ, इस पल में तैयार करूँ। 'इस पल में करूँ' ऐसा जिसने अभ्यास कर रखा है, उसे मरण के समय 'यह पल ही' आ जायेगा। (144)
- देव, गुरु और धर्म की भावना है, उस भावना को काल नहीं होता, क्योंकि परमात्मपद को जैसे काल नहीं होता, वैसे उसकी भावना को भी काल नहीं होता। भावना भाते हुए ऐसा नहीं हो जाता कि मैं बहुत वर्ष से भावना भाता हूँ तो भी फल क्यों दिखाई नहीं देता—ऐसी आकुलता नहीं होती। आकुलता है, वह तो कषाय है और जहाँ ऐसी आकुलता होती है, वहाँ तो आत्मभाव दूर होता जाता है। और आकुलता है, वह अपनी भावना को शिथिल कर देती है तथा उसमें सन्देह हो जाता है, इसलिए अपनी सच्ची भावना को भी देरी कर डालता है। इसलिए भावना को काल नहीं

होता। भावना, वह भी वस्तुस्वरूप है। यदि तेरी सच्ची भावना होगी तो तेरा आत्मभाव तुझे मिलेगा ही। जितना कारण दे, उतना कार्य अवश्य मिलता ही है। (145)

- अन्तर्गत के प्रमाण से जिसे वस्तु मनायी हो, पोषण करना हो, उसे फिर इन्द्र उतरकर डिगाने आवे तो भी वह डिगता नहीं। (146)
- संसार प्रेम के लक्ष्य से बगल में से वादिन्त्र बजते हुए निकलें, उनका भी ख्याल नहीं रहता,... तो आत्मा के लक्ष्य से सम्पूर्ण जगत विस्मृत हो जाये, उसमें आश्चर्य क्या? (147)
- आकुलतावाले सुख से भी शरीर की व्याधि भूल जाता है तो अनाकुलतावाले सुख से जगत क्यों नहीं भूल जायेगा! अर्थात् आत्मा के सच्चे सुख द्वारा संसार के चाहे जैसे घोर दुःख भी भूल जाते हैं। (148)
- एक वस्तु के एक पहलू का भी जिसे यथार्थ ज्ञान हो, उसे सभी पहलुओं का ज्ञान यथार्थ हो जाता है। सम्यग्दर्शनसहित का मति-श्रुतज्ञान, वह केवलज्ञान का अंश है, केवलज्ञान का नमूना है, केवलज्ञान का टुकड़ा है। (149)
- रोज रोटियाँ खाने पर भी अरुचि नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञान को बारम्बार कहने से, सुनने से अरुचि नहीं होनी चाहिए। (150)
- आज्ञा दो प्रकार से है—द्रव्य आज्ञा और भाव आज्ञा। द्रव्य आज्ञा माने तो पुण्यबन्ध होता है; भाव आज्ञा समझना बहुत महँगी है, भाव आज्ञा समयमात्र समझ में आये तो भवभ्रमण टल जाते हैं। (151)
- अन्तर के आत्मधर्म की रीति तो चक्रवर्ती तथा भिखारी दोनों को समान होती है। मरण और धर्म की रीति तो सर्व को एक ही प्रकार से होती है। (152)
- जगत का प्रेम घटाये बिना परमेष्ठी के हृदय में क्या है? उनके कलेजे में क्या है?—यह समझ में नहीं आता। इसलिए परमेष्ठी का स्वरूप जानने के लिये जगत का प्रेम घटाना चाहिए। (153)
- समयसार अर्थात् सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि का वर्तमान पूरा रूप। बारह अंग और चौदह पूर्व का दोहन समयसार है और पूरे समयसार का दोहन ४७ शक्तियाँ हैं। शक्तियों

का वर्णन करके आत्मा का परमात्मपना खोल दिया है। इन शक्तियों के वर्णन में तो केवली का पेट है। भरतक्षेत्र में अजोड़ शास्त्र समयसार है। (154)

- चक्रवर्ती की खीर चक्रवर्ती ही पचा सकता है, वासुदेव के केसरिया लड्डू वासुदेव ही पचा सकते हैं; उसी प्रकार आत्मा के अनन्त-अनन्त आश्चर्यकारी स्वभाव के सामर्थ्य को धर्मात्मा ही पचा सकता है। दूसरे का काम नहीं है। (155)
- अहो! सम्यग्दृष्टि जीव छह-छह खण्ड के राज्य में खड़ा हो, तथापि उसके ज्ञान में जरा भी मचक नहीं आती कि यह मेरे हैं। और छियानवें हजार अप्सरा जैसी रानियों के वृन्द में खड़ा हो तो भी उसमें जरा भी सुखबुद्धि नहीं होती। अरे! कोई नरक की भीषण वेदना में पड़ा हो, तो भी अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन की अधिकता नहीं छूटती। उस सम्यग्दर्शन का क्या माहात्म्य है, यह जगत को बाह्य दृष्टि से ज्ञात होना कठिन है। (156)
- अहो! भावलिंगी मुनि अर्थात् तो चलते परमेश्वर, जो अन्दर में आनन्दकन्द के झूले में झूलते हों और पंच महाव्रत का राग उठे, उसे जहर जानते हों। अहो! जिनके दर्शन अहो भाग्य से होते हैं। जो आनन्द की खेती कर रहे हैं, वह धन्य दशा अलौकिक है, गणधर के नमस्कार जिसे पहुँचे, उस दशा की क्या बात! (157)
- दर्शनमोह मन्द किये बिना वस्तु स्वभाव ख्याल में आता नहीं और दर्शनमोह का अभाव किये बिना आत्मा अनुभव में आवे, ऐसा नहीं। (158)
- एक गाँव में दुष्काल पड़ने से गरीब मनुष्य भूख के मारे राजा के पास गये कि साहेब! हम भूखे मरते हैं, हमारे पास दाना नहीं है। तब राजा कहता है कि दाना न हो तो खाओ न खाजा! तब गरीब मनुष्य कहते हैं कि हमारे पास दाना भी नहीं तो खाजा तो कहाँ से होगा! परन्तु यहाँ तो सबके पास खाजा पड़ा ही है, नहीं, ऐसा यहाँ नहीं। यहाँ तो भाई! तेरी अन्दर शक्ति में अतीन्द्रिय आनन्द का खाजा अर्थात् खजाना भरा पड़ा है, तू नजर कर, इतनी देर है। (159)
- आत्मा के लिये कुछ उसके पीछे पड़ना चाहिए। उसका ही रटन करना चाहिए। जागते-सोते उसका प्रयत्न चाहिए, उसकी रुचि का प्रकार सरीखा होना चाहिए। अन्दर में

परमेश्वर कितना महान है! उसे देखने का कौतुहल जगे और देखे बिना चैन न पड़े। (160)

- सर्वज्ञ, सन्त, शास्त्र पुकार करके ऐसा कहते हैं कि पहले में पहले आत्मा को जानना, आत्मा को अनुभव करना, उसके बिना एक कदम भी आगे नहीं चलेगा। आत्मा का परमार्थ स्वरूप बतलाने के लिये सीधी बात की है कि पहले में पहले आत्मा को जानकर अनुभव कर। समयसार गाथा 5 में भी कहा है कि मैं कहता हूँ, उसका अनुभव करके प्रमाण करना। (161)
- समयसारजी प्रथम हाथ में आने पर, कुन्दकुन्द आचार्य ने महाविदेह में विराजमान सीमन्धर भगवान के साक्षात् दर्शन करके, यहाँ आकर यह शास्त्र रचे हैं, इसलिए उनके आगम परम मान्य है—यह फुटनोट पढ़ते ही ऐसा हो गया कि 'यह मेरे घर की ही बात है।' (162)
- एक ओर आनन्दधाम प्रभु अन्दर में विराजता है और दूसरी ओर बाहर में मृगजल जैसे विषय हैं; तेरे हित को विचार कर जहाँ रुचे वहाँ जा। (163)
- मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी साधु हुआ, तो भी उसे अभी बोझा उतरा नहीं है और सम्यग्दृष्टि को छह खण्ड के राज्य में भी बोझा नहीं है। राग के एक अंश में लाभबुद्धि है, वहाँ पूरे जगत का बोझा पड़ा है। जरा भी बोझा उतरा नहीं, अन्दर में प्रवेश करने पर सब बोझा उतर जाता है। (164)
- अहो! मुनिदशा अर्थात् साक्षात् केवलज्ञान की तलहटी! आनन्द के अनुभव के झूले में झूलते हुए, हजारों बिच्छू के काटने पर भी या ४८ कोस के बड़ी आवाजादि होने पर भी उसकी जिसे खबर रहती नहीं और आनन्द में गहरे उतरकर क्षण में केवलज्ञान लें, उस अद्भुत मुनिदशा की क्या बात! धन्य दशा है। (165)
- जैसे किसी को एक बात कठोर वेदना आ गयी हो और फिर वैसी वेदना हो, ऐसा कोई चिह्न ख्याल में आने पर भी कंपकंपी छूटती है और त्रास... त्रास... हो जाता है; इसी प्रकार चौरासी के अवतार के दु:ख का स्मरण करने पर त्रास... त्रास... हो जाता है। (166)

- यह वस्तु प्रयोग में लाने के लिये अन्दर मूल में से पुरुषार्थ का उपाड़ आना चाहिए कि मैं ऐसा महान पदार्थ—ऐसा निरालम्बनरूप से किसी के आधार बिना अध्धर से विचार की धुन चलते-चलते ऐसा रस आवे कि बाहर में आना सुहावे नहीं। अभी है तो विकल्प, परन्तु ऐसा ही लगे कि यह... मैं, यह मैं—ऐसे घोलन का जोर चलते-चलते वे विकल्प भी छूटकर अन्दर में उतर जाते हैं। (167)
- सिर को काटनेवाला, कण्ठ को छेदनेवाला अपना जितना अहित नहीं करता, उतना अहित अपना विपरीत अभिप्राय करता है। जगत को अपने विपरीत अभिप्राय की भयानकता भासित नहीं होती। (168)
- आत्मा दैवी शक्तियों से भरपूर देव है। यह आत्मा ही देवाधिदेव है। इसके अन्तर में से आनन्द की लहेजत आने पर इन्द्र के सुख कचरे के ढ़ेर जैसा लगता है। (169)
- देवरानी-जेठानी इत्यादि अलग होनेवाले हों, उससे पहले एक-दूसरे के सम्बन्ध में टेढ़े बोलने लगते हैं, यह उनके भिन्न पड़ने के लक्षण हैं। उसी प्रकार ज्ञान और राग के बीच भेदज्ञान होने का यह लक्षण है कि ज्ञान में राग के प्रति तीव्र अनादर भाव जगता है, वह ज्ञान और राग के बीच भेदज्ञान होने का लक्षण है। आत्मा में राग की गन्ध नहीं, राग के जितने विकल्प उठते हैं, उनमें जलता हूँ, उनमें दुःख... दुःख... और दुःख है—जहर है, इस प्रकार पहले ज्ञान में निर्णय करे तो भेदज्ञान प्रगट होता है। (170)
- बहुश्रुत के हृदय में तीर्थंकरदेव का वास है, ज्ञानी के हृदय में तीर्थंकर बसते हैं, इसलिए तीर्थंकर जो कहते हैं, वही बात उनकी वाणी में आती है। (171)
- दिगम्बर सन्तों के शास्त्र अर्थात् चैतन्य चिन्तामणि रत्न को बतलानेवाले विशाल खजाना! पर से हट और स्वभाव सन्मुख जा! इसके लिये शास्त्र कहे हैं। (172)
- जैसे शक्करकन्द अग्नि में बफ जाता है, उसी प्रकार आत्मा विषय की वासना में बफ जाता है। परन्तु इसे इसका भान नहीं, इसलिए सुख लगता है। (173)
- अपने पीछे विकराल बाघ झपटता मारता, दौड़ता आ रहा हो तो स्वयं कैसी दौड़ लगायेगा! वह विश्राम करने के लिये खड़ा रहता होगा? उसी प्रकार यह काल

झपट्टा मारता हुआ चला आ रहा है और अन्दर काम करने का बहुत है, ऐसा इसे लगना चाहिए। (174)

- आनन्द में झूलते सन्त कहते हैं कि हमने सैकड़ों शास्त्र देखकर निर्णय किया है कि चैतन्यस्वरूप में तो अकेला ज्ञान और आनन्द ही भरा है, दूसरा कुछ उसमें नहीं है। (175)
- बापू! तुझे बहुत पुरुषार्थ करना है। हरि हरादि भी पीछे पड़े, पूरे पहुँच नहीं सके, तुझे तो शुरुआत करनी है। तुझे प्रभु के घर पहुँचना है, इसलिए तुझे तो बहुत पुरुषार्थ चाहिए। (176)
- जैसा वस्तु स्वभाव है, वैसा ज्ञान करना पड़ेगा, इसके बिना वस्तु जवाब नहीं देगी। पोपाबाई का राज नहीं है। (177)
- सत्य की बात समझने में टिका रहना, वह भी एक पुरुषार्थ है। (178)
- जितने परमात्मा हुए, वे सब अन्दर में से निकले हैं। आत्मा स्वयं ही परमात्मा का गर्भ है, उसमें से सब परमात्मा होते हैं। (179)
- पाँच सौ धनुष्य की कायावाले मनुष्य के पैर के अंगूठे को एक पतले बारीक बाल से बाँधा हुआ हो तो उस इतनी बड़ी कायावाले को क्या बाँधे? इसी प्रकार आत्मा अनन्त-अनन्त शक्ति का पिण्ड है, उसके एक चारित्र गुण की एक समय की पर्याय में बन्धन है, यह वह अनन्त शक्तिवाले आत्मा को क्या बाँधे? (180)
- आत्मा की शोभा पर जिसकी दृष्टि जाती है, उसे दुनिया के सभी सुख सड़ी हुई बिल्ली और बन्दर की दुर्गन्ध जैसी दुर्गन्धमय लगते हैं। (181)
- भाई! तेरी नजर स्थिर हो ऐसी कोई बाह्य चीज़ जगत में नहीं है, तेरे लिये नजर स्थिर हो, ऐसी चीज़ जगत में तू एक ही है। (182)
- भाई! तू शरीर के सामने न देख! तेरे विकल्प मुफ्त में जाते हैं और आत्मा का कार्य भी नहीं होता। शरीर दगा देगा। भाई! तेरे आत्मा का करना है, वह कर ले। (183)
- परसत्तावाले तत्त्वों को ग्रहण करने का अभिमान, परसत्तावाले तत्त्वों को त्याग करने

का अभिमान, यह अभिमान ही मिथ्यात्व है और वह सात व्यसन के पाप से भी महान पापरूप है। (184)

- कोई भी जीव अपनी अस्ति बिना, क्रोधादि होने के काल में, 'यह क्रोधादि हैं'—ऐसा जान सकता ही नहीं। अपनी विद्यमानता में ही वे क्रोधादि ज्ञात होते हैं। रागादि को जानने से भी ज्ञान... ज्ञान... ऐसा मुख्यरूप से ज्ञात होने पर भी 'ज्ञान, वह मैं'—ऐसा न मानकर ज्ञान में ज्ञात होते रागादि, वह मैं हूँ, ऐसे राग में एकत्वबुद्धि से जानता है—मानता है, इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है। (185)
- एक समय का भूला हुआ भगवान दूसरे समय में भूल मिटाकर भगवान हो सकता है। कल का लकड़हारा आज केवली हो, ऐसे प्रसंग अच्छे काल में नजरों से दिखते थे। (186)
- यह चैतन्य तो लँगड़ा है, हिलता नहीं, चलता नहीं, बोलता नहीं, विकल्प करता नहीं; होता है, मात्र उसे जानने के स्वभाववाला ज्ञाता-दृष्टा ही है। (187)
- तिनके के आड़ में पर्वत रे, पर्वत कोई देखे नहीं। इसी प्रकार पर्याय के पीछे प्रभु रे प्रभु कोई देखे नहीं। अहो! एक समय की पर्याय के पीछे परमात्मा विराजता है। (188)
- अरे प्रभु! कहाँ का तू? और कहाँ का यह पिंजण? और कहाँ के यह राग-द्वेष, तुझे और इन्हें वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है। (189)
- जिनवाणी का महान लक्षण तो यह है कि राग की ओर निमित्त की एकदम उपेक्षा करावे, वह जिनवाणी का लक्षण है। लाख बात की यह बात है कि आत्मा वीतरागी स्वरूप है, जिनस्वरूप है, उसका आश्रय करने से संसार का अन्त आता है। (190)
- सुनते समय इसे आत्मा का स्वरूप स्पष्ट लगता है, तथापि इसका भ्रमजाल बना रहता है, इसका कारण यह है कि इसने ज्ञान का गहरा पाया डाला ही नहीं। (191)
- तीन लोक का नाथ अन्दर में विराजता है, उसकी इसे खबर नहीं और बाहर के पदार्थों की कीमत आँकने जाने से यह अपनी सामर्थ्य की कीमत भूल गया। (192)
- पहले चारित्रदोष टालने का प्रयत्न करता है, इसकी अपेक्षा पहले दर्शनशुद्धि का

प्रयत्न कर, तो अन्दर में जाने का मार्ग निकलेगा। (193)

- हाथ का हथियार जो अपना ही गला काटे, वह हथियार किस काम का? उसी प्रकार जो विद्या—ज्ञान अपने आत्मा को संसार में भटकावे, वह विद्या-ज्ञान किस काम का? जो विद्या-ज्ञान इसे संसार दुःख से मुक्त कराता है, वही सच्ची विद्या और सच्चा ज्ञान है। (194)
- अज्ञानी स्वयं अपने को ठगता है और मानता है कि हम लाभ में हैं। इसी प्रकार जगत अनादि से ठगाया है। (195)
- वर्तमान में जरा एक प्रतिकूलता आवे तो वह इससे सहन नहीं होती, परन्तु भविष्य में अनन्त प्रतिकूलतायें आवे, ऐसे भावों से छूटने की इसे दरकार नहीं है। (196)
- मूल चीज़—ध्रुव वस्तु ऐसी सूक्ष्म है कि वह सूक्ष्म चीज़ इसके हाथ में आवे तो बस! इसे अमृत की वर्षा बरसी। (197)
- श्मशान में फूले हुए मुर्दे पड़े हों, उनमें काले कौवे को मजा लगता है। इसी प्रकार यह हष्ट-पुष्ट दिखते शरीर फूले हुए मुर्दे हैं, उसमें सुख मानते हैं, वे सब काले कौवे समान हैं। (198)
- शास्त्र में आता है कि इस शरीर में पाँच करोड़ अड़सठ लाख निन्यानवें हजार पाँच सौ चौरासी रोग रहे हुए हैं। देह तो रोग की मूर्ति है। भगवान आत्मा आनन्द की मूर्ति है। मृतक देह में भगवान अमृत का सागर मूर्छित हो गया है। भाई! एक बार तू तुझे देख! दूसरे को देखने में अन्ध हो जा और तुझे देखने में हजार आँखों से देख। (199)
- आत्मशक्ति में—स्वभाव में भूल की गन्ध ही नहीं और पर्याय की भूल को हम देखते नहीं। सदोषदशा को हम नहीं देखते, हम तो पवित्र स्वभाव को ही देखते हैं। (200)
- लकड़ी के, लोहे के, अग्नि के, जल के, बिजली के स्वभाव का जीव भरोसा करता है। दवा की गोली का भरोसा करता है। जिससे पर में कुछ नहीं होता, तथापि उसका भरोसा जीव करता है, तो जिसमें आश्चर्यकारी एक ज्ञानशक्ति है, ऐसी-ऐसी अनन्त शक्तियों में व्यापक भगवान आत्मा अचिन्त्य शक्ति सामर्थ्यवान है, उसका भरोसा करे तो भवभ्रमण छूट जाये। (201)

- हाथ में लकड़ी रखकर शरीर को स्पर्श कराने से शरीर के शीत-उष्ण का ख्याल नहीं आता। और बढ़े हुए नख से भी शरीर का शीत-उष्णपना भी ख्याल में नहीं आता। क्योंकि वह शरीर का अंग नहीं है। उसी प्रकार लकड़ी समान जड़ इन्द्रियों से और नख समान शुभराग से आत्मा ख्याल में नहीं आता परन्तु ज्ञान का क्षयोपशम, वह आत्मा का अंग है, उस ज्ञान को आत्मा में झुकान से आत्मा का भान होता है। (202)
- बाहर के अधिक ज्ञेय देखने की इसे ऐसी आदत पड़ गयी है कि जिससे इसे एकरूप स्वज्ञेय में आने में भार लगता है, कठिन लगता है। बाहर के अधिक ज्ञेयों में इसे भरा हुआ लगता है। और एकरूप ज्ञेय में (अन्दर में) जाना इसे खाली... खाली... जैसा लगता है, परन्तु वास्तव में तो बाहर के अधिक ज्ञेय एकदम खाली है, एक स्वज्ञेय में ही भरपूर-भरपूर है। अनन्त ज्ञेयों को जानने जाने से एक का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता। एक स्वज्ञेय को जानने जाने से अनन्त ज्ञेयों का ज्ञान सच्चा होता है। (203)
- हे प्रभु! आपने चैतन्य के अनन्त खजाने खोल दिये तो हे प्रभु! अब ऐसा वह कौन होगा कि तिनके समान चक्रवर्ती के राज को छोड़कर चैतन्य के खजाने को खोलने के लिये न निकल पड़े! (204)
- यह आत्मा, वही जिनवर है, अनादि काल से जिनवर है, आहाहा! अनन्त केवलज्ञान की बेलड़ी है, अपना आत्मा ही अमृत का कुम्भ है, अमृत की बेलड़ी है, उसमें एकाग्र होने से पर्याय में जिनवर के दर्शन होते हैं, परमात्मा प्रगट होते हैं। उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। (205)
- जिसने आत्मा को जाना, उसने केवलज्ञानी के पेट खोलकर जान लिया, केवलज्ञान का कैसा आनन्द है और कैसा स्वरूप है, उसका सब ख्याल भावश्रुतज्ञान में आ गया है। (206)
- समेट... समेट... समेट..., बाहर की दृष्टि समेट। तेरी दौलत... तेरे निधान तेरे अन्दर में भरे हैं, अन्दर में देख! अन्दर में देख! अन्दर में सुधारस झरता है—चूता है, वहाँ दृष्टि को जोड़। (207)

- अरे प्रभु! तू अमृतकुण्ड में रहनेवाला आत्मा, चमार कुण्ड जैसे मृतक कलेवर और पुण्यादि को 'मेरे... मेरे' करके उनमें मूर्छित हो गया। (208)
- अहो! समयसार! यह तो अशरीरी वस्तु है, अशरीरीपना बताते हैं। उसकी धुन चढ़ने पर देह और आत्मा दोनों पृथक् पड़ जाते हैं, पृथक् अनुभव में आते हैं। (209)
- दुनिया में लोग कहते हैं कि काल-दुष्काल होगा तो बड़े के सहारे पार उतरेंगे। उसी प्रकार यह अन्दर में बड़ा भगवान विराजता है, उसके सहारे (आश्रय से) संसार को पार उतरा जाता है। (210)
- पराधीनवृत्तिवाले (दबेल प्रकृतिवाले) जीव को ऐसा कहते हैं कि पर से तुझे लाभ होगा, गुरु से तुझे लाभ होगा, भगवान की भक्ति से तुझे लाभ होगा, यह बात उसे बैठ जाती है, परन्तु स्वयं प्रभुत्व, विभुत्व आदि अनन्त शक्तियों से भरपूर भगवान है—यह बैठना कठिन पड़ता है! (211)
- अरे चैतन्य प्रभु! तेरी शक्ति की एक टंकार से तू केवलज्ञान ले-ऐसी तेरी ताकत!—और तू कहता है कि मुझे मेरा स्वरूप नहीं समझ में आता—यह कहते हुए तुझे शर्म नहीं आती? (212)
- दुनिया को भूलकर तेरी अतीन्द्रिय चैतन्य गुफा में उतर। तो वहाँ अकेला सुख ही भरा है। तेरा स्वरूप सुख का ही धाम है। (213)
- ज्ञान की अचिन्त्य महिमा का चिन्तन संसार के सर्व क्लेश को भुला देता है। अहो! यह बात समझकर स्वयं अपने अन्तर में उतरने योग्य है। स्वयं अपना हित करने के लिये यह बात है। (214)
- पर में से सुख लेने की बुद्धिवाले देव स्वर्ग में भी दुःखी हैं और अपने में से ही सुख लेने की बुद्धिवाला नारकी नरक में भी सुखी है। (215)
- हे भव्य! तेरे चैतन्यस्वभाव की असातना न हो और आराधना हो, ऐसा कर। (216)
- मैं एक अखण्ड ज्ञायकमूर्ति हूँ, विकल्प का एक अंश भी मेरा नहीं है—ऐसा स्वाश्रय भाव रहे, वह मुक्ति का कारण है। (217)

- सत्स्वरूप का सत्य निरूपण भी जिसे सुनने को मिलता है, वह महाभाग्यशाली है। सत्श्रवण-मनन बिना का जीवन ढोर जैसा है। (218)
- जैनधर्म में भगवान महावीर ने स्व और पर की भिन्नता के मूलमन्त्र दिये हैं। स्व और पर की भिन्नता भासित होना, वही मनुष्य जीवन की सार्थकता है। (219)
- जैनदर्शन, वह वेश या सम्प्रदाय नहीं है। प्रत्येक जीव की शक्ति परमात्मस्वरूप है—ऐसा बतलानेवाले धर्म को जैनदर्शन कहो, विश्वदर्शन कहो, वस्तुदर्शन कहो, या आत्मदर्शन कहो—सब एक है। (220)
- कोटि-कोटि सूर्य के प्रकाश से भी अनन्तगुणा प्रकाश ज्ञानभानु का है। कोटि कोटि चन्द्र की शीतलता से भी अनन्तगुणी शीतलता चैतन्यचन्द्र की है। कोटि कोटि सागर की गम्भीरता से भी अनन्तगुणी गम्भीरता आत्मा में है। आकाश के अनन्तानन्त प्रदेशों से भी अनन्तगुणे गुण आत्मा में हैं। (221)
- देहरूपी देवल में जिनस्वरूप आत्मा विराजमान है। उसका विश्वास करने से पर्याय में प्रगट जिन होता है। (222)
- चक्रवर्ती की सम्पदा से भी जिसका एक समय अति कीमती है, ऐसा यह अति दुर्लभ मनुष्यभव अनन्त भव-भ्रमण के अभाव के लिये भव है। (223)
- अरबपति मनुष्य जेब में पाँच-पच्चीस रुपये लेकर शाक-भाजी लेने निकला; उसे उतनी ही पूँजीवाला माने, उसने उसे पहिचाना ही नहीं। उसी प्रकार वर्तमान अल्पज्ञता और अल्पवीर्यवाला जो आत्मा को मानता है, उसने आत्मा को पहिचाना ही नहीं, आत्मा की त्रिकाली ध्रुव सत्ता को स्वीकार करे, उसने ही आत्मा को पहिचाना है। (224)
- एक पर्याय में दूसरे सब द्रव्यों की पर्याय का अभाव है। एक पर्याय और दूसरे द्रव्य की पर्याय के बीच अभाव की वज्र की शिला पड़ी है। वहाँ एक पर्याय दूसरी पर्याय को करे क्या? मेरा कोई करे नहीं, मैं पर का कुछ कर नहीं सकता, इसलिए उसे पर के सामने देखने का रहा ही कहाँ? पर की आशा करना रहा ही नहीं। एक भी बात यथार्थ बैठ जाये न, बस समाप्त! (225)
- बारम्बार यह निर्विकल्प आत्मा... निर्विकल्प आत्मा—ऐसा बारम्बार सुनता है,

इसका अर्थ ही यह है कि इसे वह रुचता है। अन्दर में विपरीत मान्यता पर संस्कार के घन पड़ते हैं, वह निर्विकल्प होगा ही। शास्त्र में कहा है न!—कि सम्यग्दर्शन के ध्यान से सम्यग्दर्शन होता है। (226)

- दूसरे के साथ लड़ना और जीतना और दूसरे को बेचारे को नीचे गिराना, यह तो कायर का काम है। आत्मा में उतरना, यह शूरवीरता है। (227)
- सम्यग्दर्शन करने के लिये बारम्बार इसी और इसी की स्वाध्याय करना, मन्थन करना, विचार करना, इसी और इसी की बारम्बार स्वाध्याय करने से निर्णय होता है और निर्णय होने से सम्यग्दर्शन होता है। (228)
- सम्यग्दर्शन हुआ अर्थात् अनन्त-अनन्त करोड़ रुपयों का कर्जा चुक गया, मात्र आधे रुपये का कर्जा देना बाकी रहता है। (229)
- अहो! इसने चैतन्य को दृष्टि नहीं की है, इसलिए परमेश्वर को परिभ्रमण हुआ है। इसकी प्रभुता का घात हुआ हैं! (230)
- अहो! देह, संसार और भोग से सावधान रहनेयोग्य है। (231)
- बाहर की विपदा, वह वास्तव में विपदा नहीं है; बाहर की सम्पदा, वह वास्तव में सम्पदा नहीं है। चैतन्य का विस्मरण, वह बड़ी विपदा है; चैतन्य का स्मरण, वही सच्ची सम्पदा है। (232)
- एक अज्ञानी लड़की को गोबर का पोहटा मिलने पर जो आनन्द होता है, वैसा आनन्द धर्मात्मा को छह खण्ड की ऋद्धि मिलने पर भी अन्तर में नहीं होता। और उस लड़की के अन्तर में गोबर के पोहटे में जो ममता है, उतनी ममता धर्मात्मा को छह खण्ड की ऋद्धि में भी नहीं होती। ऐसा तो आश्चर्यकारी स्वरूप ज्ञानी-अज्ञानी की दशा का है। उसे धर्मी जीव ही जान सकता है। (233)
- शरीर में रहा होने पर भी शरीररहित अनुभव कर लेना, यही शान्ति है; दूसरी कोई शान्ति नहीं। (234)
- मैंने दुकान के धन्धे छोड़े, यह छोड़ा... यह छोड़ा... यह दृष्टि ही मिथ्यात्व को पुष्ट

करनेवाली है। जो पृथक् ही पड़े हैं, उन्हें छोड़ूँ, यह दृष्टि ही मिथ्यात्व के आस्रव को बढ़ानेवाली है। (235)

- अहो! केवलज्ञान लेने में कितनी धीरज! कितनी धीरज! क्षमा और समता हो, तब केवलज्ञान होता है। नीचे भी कितना निश्चिन्त हो, कितनी धीरज हो। द्रव्य को पहुँचने में कितनी धीरज हो, तब पहुँच सकता है। बाहर से बहरा, बाहर से गूँगा और बाहर से अन्धा हो जाता है। (236)
- जिनस्वरूप की बात सुनते हुए भी वीरता जगे, तो उसकी सम्हाल करने से कितनी वीरता जगे! ननिहाल में विवाह और माँ परोसनेवाली, फिर बाकी क्या रहे! इसी प्रकार यहाँ सत्य परोसा जाता है। (237)
- आत्मा की विकल्पसहित साधारण महिमा आवे, वह महिमा नहीं कहलाती। अन्दर से रुचे तो वीर्य उछले, वह कहाँ उछलता है? साधारण धारणा और माहात्म्य तो अनन्त बार आया परन्तु वास्तविक माहात्म्य अन्दर से आना चाहिए। बाकी ही यह रह गया है न! पहले माहात्म्य आता है और फिर माहात्म्य की उग्रता होने पर एकाग्रता होती है। (238)
- बाह्य की अनुकूल साधन सामग्री से अन्तर में साधन हो, ऐसा है ही नहीं। नाक-कान बन्द करके पूरे शरीर को पोटली की तरह बाँधकर ऊपर से नारकी को घन की चोट मारे तो धर्म का साधन न हो, ऐसा है ही नहीं। वह नारकी अन्दर में जरा विचार में चढ़ने पर अन्तर में भेदज्ञान कर लेता है। बाह्य की प्रतिकूलता जरा भी अवरोधक नहीं है। जरा सा शरीर छूटा हो तो ठीक और बँधा हो तो ठीक नहीं, ऐसा है ही नहीं। (239)
- साथ में प्रभु विराजते हों और उनके दुश्मन के साथ बातें करे, वह प्रभु कहाँ से प्रसन्न होगा? शुभाशुभभाव तो दुश्मन है। वे सुहाते हैं तो प्रभु कहाँ से प्रसन्न होगा? (240)
- वैराग्य तो उसे कहते हैं कि पर की ओर से हटकर जो अन्दर की महासत्ता की ओर ढला है, पुण्य-पाप से और पर्याय से भी हटकर अन्दर में जाना, वह वैराग्य है। जिसे राग में रहना सुहाता नहीं, परद्रव्य में अटकना सुहाता नहीं और जो पर्याय

प्रगट हुई, उतने में ही रहना भी जिसे सुहाता नहीं, ध्रुव पाट अन्दर में पड़ी है, उसमें जिसे जाना है, उसे तो पर्याय में रहना भी नहीं सुहाता। (241)

- किसी को फाँसी का आर्डर हुआ हो और फाँसी देने के रूम में ले जाये और फिर कैसा कंपकंपाने लगे! उसी प्रकार संसार के दु:ख से जिसे त्रास-त्रास हो गया हो, उसके लिये यह बात है। (242)
- आत्मअनुभव के अतिरिक्त सभी शून्य है। लाख कषाय की मन्दता करे या लाख शास्त्र पढ़े परन्तु अनुभव बिना सब शून्य है। और कुछ न आवे, तो भी अनुभव हुआ तो सब आता है, जवाब देना भी न आवे परन्तु केवलज्ञान लेगा। (243)
- थोड़ा, परन्तु सत्य ग्रहण करे तो उतने में केवलज्ञान प्रगट करने की सामर्थ्य है; और थोड़ा भी विपरीत ग्रहण करे तो उतने में अनन्त निगोद के भव करने की सामर्थ्य है। (244)
- जैसे आकाश में अग्नि का भड़का सुलगता हो तो भी आकाश को उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है, उसी प्रकार शरीर में चाहे जैसे फोड़े हों—चाहे जैसी अवस्था हो, तो भी आकाश के समान आत्मा को उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। (245)
- जैसे एक बड़े तपेले में पूरे में पानी भरा हो, उसमें उसके माप का ही लकड़ी का गट्ठा डालने से सब पानी बाहर निकल जाता है, उसी प्रकार आत्मा में सिद्ध की स्थापना करने से आत्मा में से सब विकार निकल जाता है। (246)
- जितनी उत्तम में उत्तम, विशेष में विशेष महिमावाली चीज़ है, वह आत्मा में न हो तो दूसरी किसमें होगी? आत्मा में ही वह सब भरा है। आत्मा ही चन्द्र, आत्मा ही सूर्य है, आत्मा ही अतीन्द्रिय जगत् चक्षु है। (247)
- स्त्री, कुटुम्ब, परिवार इत्यादि तो आत्मा के शत्रु जो कर्म, उसने खड़े किये हुए षड़यंत्र हैं। उन्हें अपना मानना, वही संसार का बीज है। पुण्य-पाप और उसके फल, वे तो आत्मा के शत्रु जो कर्म, उसने खड़े किये हुए षड़यंत्र हैं।(248)
- पात्र होना कठिन है, बातें करना सीख गया है, इसलिए मैं समझ गया—ऐसा माने तो ऐसा नहीं है। यह तो बापू! समझना बहुत दुष्कर है। कितनी पात्रता, कितनी

सज्जनता, कितनी योग्यता हो, तब यह समझने के योग्य होता है। (249)

- जितने विकल्प उठते हैं, उन सबमें कुछ माल नहीं है। वह सब दुःख के पंथ हैं। सब विकल्प हैरान करनेवाले हैं, ऐसा इसे निर्णय हो तो आत्मा की ओर प्रयत्न करे। (250)
- अहो! जिसके आनन्द की एक क्षण की लहेजत में—लहर में तीन लोक के सुख विष जैसे लगें, जहर जैसे लगें, तृणवत् तुच्छ लगें, ऐसा भगवान आत्मा है। (251)
- जिसे केवली भी कह नहीं सके, यह वह चीज़ कैसी है, ऐसा जरा अन्तर में प्रयत्न करके देखे तो सही!—कि यह चीज़ वह है क्या?—कि जिसकी ज्ञानपर्याय एक क्षण में अनन्त केवलियों को जान लेती है, और जिसके पेट में केवलज्ञान की अनन्त पर्यायें पड़ी हैं। (252)
- मनुष्यपर्याय का एक-एक क्षण महा कौस्तुभमणि से भी कीमती है। उसमें चौरासी की खान में से निकलने का करना है। एक क्षण करोड़ों और अरबों रुपयों से भी अधिक है। चक्रवर्ती के छह खण्ड के राज्य से भी एक समय थोड़े ही मिलता है? उसमें (-मनुष्यपर्याय में) यह एक ही करनेयोग्य है। (253)
- प्रिय पुत्र मर गया हो परन्तु उसे नजर और नजर में तैरता रहता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को—धर्म की प्रथम भूमिका को प्राप्त जीव को अपना चैतन्य भगवान नजर में तैरता रहता है। सम्यग्दृष्टि को चैतन्य पर नजरबन्दी हो गयी है। (254)
- बाहर में फेल हो, वहाँ इसे हीनता लगती है परन्तु अन्दर में अपने को हीन मानता है, यह हीनता है। पूर्ण को हीन मानना, यही हीनता है। (255)
- रागादि और अल्पज्ञता, वह भी इसमें नहीं। ऐसे शुद्धस्वरूपमात्र आत्मा को जागकर देख, जागकर देख, बापू! यह नूतन वर्ष है। (256)
- पहले तो अपने को विकल्पवाला मानना और फिर विकल्प को टालने का प्रयत्न करना, यही सबसे बड़ी विपरीतता है, मिथ्यात्व है। पहले विकल्परहित हूँ, ऐसी दृष्टि करे, फिर विकल्प छूटते हैं। (257)
- जैसे देह है, वह हेय है, परन्तु छोड़ा नहीं जाता; उसी प्रकार राग है, वह हेय है,

परन्तु पुरुषार्थ की कमजोरी से छोड़ा नहीं जाता। (258)

- इसे काल थोड़ा है और करने का काम बहुत है। (259)
- आहाहा! कठिन काम है, बापू! अन्दर में वैराग्य! वैराग्य! यह सब बिखर जायेगा। बाहर का तुझमें नहीं और तेरे कारण आया नहीं। तुझमें भ्रमणा आयी है, उसका नाश करने का यह काल है। (260)
- भगवान आत्मा ज्ञान की लहर से उछलता हुआ; पर के काम और राग के काम मेरे ज्ञाता-दृष्टा के नहीं... ऐसी दृष्टि करने से केवलज्ञान के किनारे आकर खड़ा है। (261)
- केवलज्ञान और केवल आनन्द, वह आत्मा को प्रिय है, प्रिय है, इष्ट है। केवलज्ञान हुआ तो आत्मा को उसका प्रिय मिल गया। केवलज्ञान प्रिय है और वह जिससे प्रगट हो—ऐसा आत्मा, वह प्रियतम है। (262)
- राग होने पर भी साधक के हृदय में सिद्ध भगवान उत्कीर्ण हैं। (263)
- दिगम्बर सन्तों ने वस्तु कही है, अन्यत्र कह सकते ही नहीं। अन्यमत में यह बात होती ही नहीं, केवलज्ञान के साधकों ने केवली का पेट (अभिप्राय) खोल दिया है। (264)
- अपने अपना करना, शरीर का होना होगा वह होगा। (265)
- भारी संक्षिप्त बात में समझाये महासिद्धान्त! कुन्दकुन्दाचार्य चैतन्य सूर्य पके, जगत के समक्ष केवली का कलेजा खुल्ला किया है। (266)
- यह आत्मा आनन्द की मूर्ति है। आत्मा में अन्तर में आनन्द ही भरा है, उसकी बात सुनना वह मांगलिक है... उसकी बात सुनने के लिये स्वर्ग में से इन्द्र नीचे आते हैं। (267)
- कागज के ऊपर बनाये गये दीपक से तिनका को जलाते नहीं, उसी प्रकार अकेले शास्त्र के ज्ञान से संसार जलता नहीं (संसार का अभाव नहीं होता)। (268)
- अशुभ उपयोग, वह सीधा अग्नि समान जलानेवाला है और शुभ उपयोग, वह उष्ण घी समान जलानेवाला है। दोनों उपयोग हैं तो जलानेवाले ही। (269)
- संक्षिप्त में तो ऐसा है कि तेरे ध्रुवस्वरूप में आनन्द भरा है, उसमें दृष्टि दे। आकुलता

होती है, परन्तु वस्तु तो अनाकुल रस है, उसकी ओर दृष्टि दे। लाख बात की एक बात है। सब कौन पढ़ता था? यह बात है। (270)

- तिर्यंच को सम्यक्त्व होता है, वहाँ किसी ने पूर्व में आत्मा शुद्ध है, ऐसा सुना होता है, वह स्मरण में आने पर फिर विचार में उतरता है और जैसे बिजली ऊपर से नीचे उतर जाये, वैसे वीर्य अन्तर में उतर जाता है। बस, करने का तो इतना ही है। फिर उसमें स्थिर होना है। (271)
- जिसने आत्मा जाना, उसने केवलज्ञानी के पेट खोलकर जान लिया; भावश्रुत जाना, उसके जानने का कुछ बाकी ही नहीं रहा, पूरी दुनिया जान ली। (272)
- आत्मा वीर का पुत्र है। शिथिल बात करनेवाले की बात सुनना नहीं। इस काल में केवलज्ञान नहीं—यह बात सुनना नहीं। केवलज्ञान कैसे होता है, यह पद्धति जानकर (–भान हुआ) इसलिए केवलज्ञान होगा ही। (273)
- अहो! अनन्त काल में यह बात हमने सुनी नहीं—ऐसे प्रसन्नचित्त से ज्ञानस्वभाव की बात अन्दर से सुने, रुचि की गुलाँट मारकर सुने, उसे भविष्य में मुक्ति होनी ही है। अहो! ऐसे पक्ष पक्का हो गया, वह बदलेगा ही नहीं। वह अवश्य मोक्ष में जाता है, उसे तो यह काल और यह योग ही विशेष भासित होता है। नौवें ग्रैवेयकवाले ने प्रसन्नता से इस प्रकार से तत्त्व की बात सुनी ही नहीं, उसे तो पुण्य में दृष्टि थी। यह तो अनन्त काल में नहीं सुनी हुई ऐसी अपूर्वता से तत्त्व की बात सुनता है, उसकी बात है। (274)
- सातवें नरक में पड़ा परन्तु अपनी मति में आत्मा को बसाता है। पंचेन्द्रिय के उत्कृष्ट दुःखों का वह स्थान है, तथापि 'यह दुःख, वह मैं नहीं, संयोग वह मैं नहीं, विकल्प वह मैं नहीं', एक समय की पर्याय में भी पर्याय को नहीं बसाता परन्तु एक समय की पर्याय में पूर्ण द्रव्य को बसाया। जिसने अपनी मति में आत्मा को बसाया हो, उसकी गति में वह परमात्मा ही होता है और जिसने अपनी मति में पुण्य-पाप बसाये, उसे चार गति ही मिलती है। (275)
- राजा को एक रानी होती है, किसी को हजार होती है, किसी को ९६ हजार होती है

परन्तु वहाँ मर्यादा आ गयी। भगवान आत्मा को अनन्त पटरानियाँ हैं, यह तो एक ही क्षेत्र में और कभी जाये नहीं। इन्द्र को करोड़ों इन्द्राणियाँ भी अमुक काल रहकर चली जाती हैं, इस भगवान आत्मा को तो अनन्त पटरानियाँ सादि-अनन्त काल आनन्द का भोग देती हैं। (276)

- जिसने भगवान पूर्णानन्द को दृष्टि में तोला है, उसे अब बाकी क्या रहा और जिसने विकल्प को दृष्टि में लिया, उसे अब नुकसान होने में बाकी क्या रहा? (277)
- कर्म की अस्ति होने पर भी, विकार की मौजूदगी होने पर भी, अल्पज्ञता की अस्ति होने पर भी जिसका दृष्टि में निषेध हो गया, विद्यमान को अविद्यमान किया और भगवान पूर्णानन्द पर्याय में अविद्यमान—अप्रगट, तथापि श्रद्धा-ज्ञान में उसे विद्यमान किया, उसका नाम ही अमल है (-सम्यग्दर्शन है)। (278)
- जैन अर्थात् अन्तर में समाये, वह जैन है। बाहर के जितने ऊफान आवे, वह तो अमुक प्रकृति के खेल हैं। विकार उठे, वह भी सब प्रकृति के खेल हैं और बाहर का जो सब होता है, वह तो सब पुद्गल-परावर्तन अनुसार हुआ ही करता है। (279)
- जिसने बाहर में कहीं राग में, संयोग में, क्षेत्र में ऐसे कहीं न कहीं किसी द्रव्य में, क्षेत्र में, काल में 'यह ठीक है'—ऐसा मानकर, वहाँ विश्राम में काल व्यतीत किया, उसने अपने आत्मा को ठग लिया है। (280)
- केवलज्ञान बैठना (स्वीकृत होना) यह कहीं साधारण बात है! केवलज्ञान की तैयारीवाले को केवलज्ञान बैठता है... जिसे आत्मा बैठा, उसे केवलज्ञान होकर ही रहेगा। (281)
- पहले समझण तो करे, स्वभाव का पक्ष तो करे कि राग और निमित्त की ओर उन्मुख होना योग्य नहीं है, परन्तु स्वभाव की ओर ही उन्मुख होना योग्य है, ऐसा पक्का निर्णय तो करे। निर्णय का वज्र का स्तम्भ तो डाले... इसके बिना एक भी कदम जाया जाये, ऐसा नहीं है। (282)
- जैनदर्शन का एक भी सिद्धान्त अन्दर से बैठ जाये तो पूरा चक्र बैठ जाये, ऐसी ही वस्तुस्थिति है। (283)

- जो बाहर की सुविधा को सुविधा मानता है, बाहर की असुविधा को असुविधा मानता है, वह प्रगटरूप से भगवान को (आत्मा को) शरीरस्वरूप ही मानता है। (284)
- अरे! ऐसा नहीं मानना कि हम अनपढ़ हैं, ऐसा नहीं मानना कि हम स्त्री हैं, ऐसा नहीं मानना कि हम दीन और हीन हैं—यह मान्यता ही तेरे परमात्मा की शत्रु है। (285)
- धर्मी का चित्त आत्मा के अतिरिक्त कहीं लगता नहीं, संसार में सबके ऊपर नजर करता है परन्तु चित्त कहीं लगता नहीं है। मक्खी को शक्कर के स्वाद में चित्त लगा हुआ है, इसीलिए पंख को दबाव आवे परन्तु वहाँ से हटती नहीं है; उसी प्रकार धर्मी का चित्त आत्मा में लगा हुआ है। प्रतिकूलता आवे, बाहर का दबाव आवे परन्तु आत्मा में से चित्त हटता नहीं, दुनिया को भले धर्मी गहल जैसा लगे, पागल लगे। (286)
- हे भाई! तेरी एक समय की पर्याय का सामर्थ्य इतना है कि ज्ञेय कम पड़े परन्तु तेरा ज्ञान कम नहीं पड़ा, तो पूरे समुद्र की तो क्या बात! एक अंश की इतनी बेहदता तो पूरे अंशी की सामर्थ्य का क्या कहना? (287)
- सर्वज्ञ-सर्वदर्शी यह शब्द जहाँ सामने आता है न, वहाँ आहाहा! पूरी वस्तु सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, वह पूरी तैरती है। (288)
- पुण्य के परिणाम का काम सर्वज्ञ को सौंपा जाये? चक्रवर्ती को कचरा निकालने का काम नहीं सौंपा जाता, उसी प्रकार आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है, ऐसा भान हुआ, उसे पुण्य के कार्य में कर्ताबुद्धि नहीं होती। (289)
- पैसे की ममता, वह तो अग्नि की भट्टी सुलगती है। यहाँ तो कहते हैं कि इन्द्र के इन्द्रासन हों, तो भी वह हमें नहीं चाहिए, वह तो सड़ा हुआ तिनका है। हमें तो हमारा आत्मा चाहिए। (290)
- बिजली ऊपर से पड़े तो भी ख्याल न जाये, ऐसा ध्यान कर। जो चीज़ इसमें नहीं, उसमें फेरफार होने पर इसे चैन न पड़े, वह ध्यान नहीं कर सकता। निर्विकल्प ध्यान में तो बिच्छू काटे तो भी खबर नहीं पड़ती, शरीर में चाहे जैसे कष्ट आयें, तो भी इसे खबर नहीं पड़ती। (291)

- द्रव्य स्वयं ही अकारणीय है, स्वयं ही अनन्त पुरुषार्थरूप है। उसके विश्वास की बलिहारी है। (292)
- जैसे हलवाई के यहाँ चूल्हे में ऊँचे से तेल के उकलती कड़ाही में पड़ा हुआ सर्प आधा तो जल गया परन्तु उस दाह से बचने के लिये चूल्हे में घुस जाने पर पूरा जल गया। उसी प्रकार जगत के जीव पुण्य-पाप में तो जल ही रहे हैं और उसमें यह विशेष सुख की लालसा में विशेष जलते हैं, ऐसे विषयों में कूदकर सुख मानते हैं। (293)
- जिसे एक प्रतिकूलता में समाधान करना आता है, उसे अनन्त प्रतिकूलता में समाधान करने की सामर्थ्य है। मुझमें प्रतिकूलता ही नहीं, मैं तो आनन्दकन्द हूँ—ऐसी दृष्टि करने से समाधान होता है। (294)
- मुनि जो उपदेश देते हैं, वह वास्तव में तो शुद्धता का पुकार है। अपने को जो शुद्ध चैतन्य की प्रियता लगी है, उसकी जगत के समक्ष प्रसिद्धि करते हैं। (295)
- जिसके सिर पर जन्म-मरण की तलवारी लटक रही है और वह संयोगों में प्रसन्नता मान रहा है, वह पागल है। (296)
- सत् के लिये पूरा जगत छूट जाये, परन्तु आत्मा को गौण नहीं किया जाता। (297)
- आत्मा जहाँ अपने स्वभाव के बल में चढ़ा, वहाँ अज्ञान का राग-द्वेष, जैसे धूप में दीमक धाणी की भाँति सुलग जाती है, वैसे सुलग जाता है (टल जाता है), जल जाता है। (298)
- समवसरण (जिनमन्दिर) जिनबिम्ब आदि वीतरागता के स्मरण के निमित्त हैं। ऐसे जीव हैं, उनका ऐसा पुण्य है, यह सब देखने पर, वर्तमान बुद्धि छूटकर त्रिकाली की बुद्धि होती है और उसके लिये यह समवसरण—जिनमन्दिर आदि निमित्त हैं। (299)
- मेरुपर्वत उठाना सरल है परन्तु यह पुरुषार्थ उठाना दुर्लभ है। इसीलिए शास्त्र में इस पुरुषार्थ को दुर्लभ कहा है। सहज स्वभाव से सुलभ है, परन्तु अनादि अनअभ्यास के कारण दुर्लभ है। (300)
- मरण होने पर भी जिसकी कीमत की होगी, वह नहीं छूटेगा, राग, द्वेष और संयोग

की कीमत की होगी तो वे नहीं छूटेंगे, आत्मा की कीमत की होगी तो वह नहीं छूटेगा। जिसका मूल्य आया होगा, वह छूटेगा नहीं। (301)

- धन कमाने का काल है, वह तो मरने का काल है। यह तो कमाने का काल है, आत्मा के आनन्द को कमाने का काल है। इसे चूकना नहीं। (302)
- अनुकूलतावाले सब रति में सुलग रहे हैं, प्रतिकूलतावाले सब अरति में सुलग रहे हैं, सब राग-द्वेष में सुलग रहे हैं, दु:खी हैं। (303)
- सम्यग्दर्शन हो, उसे पर्याय में महा पामरता भासित होती है। सम्यग्दर्शन होने पर तो नरमाई... नरमाई... आ जाती है, मुझे बन्ध नहीं होता, ऐसा उसे नहीं होता। (304)
- जिसने जीवनकाल में संयोग को वियाग के साथ ही भाया है, अनुकूलता में भी उसके वियोग की भावना भायी है, उसे उसके वियोगकाल में खेद नहीं होगा। (305)
- देह तो तुझे छोड़ेगी ही, परन्तु तू देह को (दृष्टि में) छोड़, उसकी बलिहारी है। यह तो शूरवीरता का खेल है। (306)
- समकिती ने सबसे आत्मा को पृथक् करके छूट ली है... अन्दर दृष्टि का झुकाव पूरा बदल डाला है। राग का स्वामित्व टल गया है, मैं ज्ञानानन्द हूँ, उसका स्वामित्व हो गया है। समकिती के भरोसे आया भगवान! राग और पर का भरोसा छूट गया। यह तो कोई थोड़ी बात है! (307)
- आत्मा महान परमेश्वर पदार्थ है। अनन्त केवलियों को अपने पेट में निगल जाये, ऐसा महान पदार्थ आत्मा है। प्रगट में भले थोड़ा (अल्पज्ञता) हो, परन्तु अप्रगट में महान शक्ति पड़ी है। प्रगट नहीं, इसलिए उसे इतनी महान शक्ति है, ऐसा बैठता नहीं। (308)
- विकल्पसहित पहले पक्का निर्णय करे कि राग से नहीं, निमित्त से नहीं, खण्ड-खण्ड ज्ञान से नहीं, गुण-गुणी के भेद से भी आत्मा ज्ञात नहीं होता—ऐसा पहले निर्णय का पक्का स्तम्भ तो डाले! मात्र पर की ओर का वीर्य तो वहाँ ही अटक जाता है। भले स्वसन्मुख झुकना अभी बाकी है... विकल्पवाले निर्णय में भी, मैं विकल्पवाला नहीं—ऐसा तो पहले दृढ़ करे! निर्णय पक्का होने पर राग लंगड़ा हो जाता है, राग

का जोर टूट जाता है, विकल्पसहित के निर्णय में स्थूल विपरीतता और स्थूल कर्तृत्वबुद्धि छूट जाती है और फिर अन्दर स्वानुभव में जाने पर निर्णय सम्यक्रूप से होता है। (309)

- अहो! प्रभु पद में खतौने की चीज़ को इसने रंक में खतौनी कर डाली है! मैं अभी ही पूर्ण प्रभु हूँ, ऐसा एक बार श्रद्धा में ला! पूर्ण प्रभुरूप से स्वीकार करने पर वह तो भगवान का पुत्र हो गया। सम्यग्दर्शन हुआ तो उसमें गर्भितरूप से केवलज्ञान ही आ गया। (310)

- कोई मनुष्य गूँगा, बहरा और अन्धा हो, इसलिए उसे पंचेन्द्रिय नहीं है—ऐसा नहीं है। उस प्रकार का लब्ध उघाड़ तो उसे होता है, परन्तु उपयोग की योग्यता नहीं है। उसी प्रकार आत्मा वर्तमान पर्याय में अल्पज्ञ होने पर भी शक्ति से अल्पज्ञ नहीं है; शक्ति में तो पूरा सर्वज्ञ है। (311)

- **मुमुक्षु :** सम्यग्दृष्टि को बड़ा पद दे दिया है?

  पूज्य गुरुदेवश्री : सम्यग्दृष्टि ने परमात्मा को आधीन कर लिया है, परमात्मा को पकड़ लिया है, कब्जे में कर लिया है। इसलिए बाकी क्या रहा? राग का कब्जा छोड़ दिया है, उसे अपने स्वभाव का खजाना खुल्ला हो गया है, निधान की तिजोरी खुल गयी है। इससे जितना चाहे उतना अन्दर से निकलता है; इसलिए सम्यग्दृष्टि का पद बड़ा हो गया है। (312)

- इस ओर परमेश्वर पड़ा है, उसका अज्ञानी को कोई माहात्म्य नहीं आता, उसकी कुछ कीमत दिखाई नहीं देती और इस ओर एक विकल्प उठता है, वहाँ तो उसे ओहोहो! हो जाता है। विकल्प का अस्तित्व और माहात्म्य आता है, वही मिथ्यात्व है। (313)

- **मुमुक्षु :** तत्त्व का श्रवण-मनन करने पर भी सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता?

  पूज्य गुरुदेवश्री : वास्तव में अन्तर से राग के दुःख की थकान लगी नहीं, इसलिए उसे विश्राम का स्थान—शान्ति का स्थान हाथ नहीं आता। वास्तव में अन्दर से दुःख की थकान लगती है, उसे अन्दर में जाने से विश्राम का स्थान हाथ आता है। सत्य के शोधनेवाले को सत्य न मिले, ऐसा होता नहीं। (314)

- अज्ञानी की भूल हो, उसे जानना परन्तु इससे उसका तिरस्कार नहीं होता, वह भी भगवान आत्मा है न! वह बेचारा अज्ञान से दु:खी है। दु:ख में जले-सुलगे का तिरस्कार करना, वह धर्मी का कार्य नहीं है। (315)
- जैसे एक करवट से सोते-सोते थकान लगती है, इसलिए करवट बदलता है; उसी प्रकार पर से मुझे लाभ होता है, पर से मुझे सुख होता है—ऐसी मान्यता से जिसे थकान लगी है, वह करवट बदलता है, आत्मा की ओर झुकता है। (316)
- जैसे छोटे बालक को कुत्ता काट खाने आये, तब वह तुरन्त वहाँ से दूर भागकर अपने माँ-बाप के पास दौड़ जाता है और उनसे चिपट जाता है; उसी प्रकार अपना आत्मा महान है, वह बड़ा आधार है, उसकी शरण में जा। (317)
- अहो! स्वयं चेतन, जड़ के समक्ष भीख माँगता है, मुझे सुख दो। जैसे बादशाह बाघरी के घर भीख माँगे कि मुझे खाने का टुकड़ा / रोटी दो, उसी प्रकार आत्मा रागरूप से तो कभी हुआ नहीं, भेदरूप हुआ नहीं, अनेकरूप हुआ नहीं, एकरूपता कभी छोड़ी नहीं, उसमें गुण के और पर्याय के भेद (विकल्प) जिसे खटकते हैं, उसे राग से लाभ हो, यह बात ही कहाँ है? वीतरागी भगवान कहते हैं कि मेरा सुनने बैठा है परन्तु है तो वह विकल्प, ध्यान रखना, उसमें फँस नहीं जाना। (318)
- अनीति से जिसे एक पाई भी लेने के भाव हैं, उसे अनुकूलता हो तो पूरी दुनिया का राज पचाने का भाव है। एक दीवान राज के कार्य के समय रात्रि में राज की मोमबत्ती जलाकर काम करता था और जहाँ अपना काम करने का नम्बर आवे, वहाँ वह राज की मोमबत्ती बुझाकर अपने घर की मोमबत्ती जलाता। अपने घर के काम के लिये राज की मोमबत्ती प्रयोग नहीं की जाती। (इतना तो लौकिक रीति का स्वरूप है।) (319)
- एक छह महीने इसे रोग रहे तो भी चिल्लाहट मचाता है, परन्तु यह तो अनन्त-अनन्त काल से मिथ्यात्व का रोग इसे लागू पड़ा है, उसकी इसे चिल्लाहट होती नहीं। आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं। (320)
- **मुमुक्षु :** यह स्वरूप लक्ष्य में आने पर भी प्रगट क्यों नहीं होता?

पूज्य गुरुदेवश्री : पुरुषार्थ चाहिए, पुरुषार्थ चाहिए। अन्दर में शक्ति पड़ी है, उसका माहात्म्य आना चाहिए। वस्तु तो प्रगट ही है, पर्याय की अपेक्षा से वस्तु अप्रगट कही जाती है। ऐसे तो वस्तु भी प्रगट ही है, कोई ढक्कन आड़े नहीं है। (321)

- बारम्बार शिष्य गुरु से सुना करता है, तब खड़ा होता है। बारम्बार सुनने से बारम्बार ज्ञान के ख्याल में माहात्म्य आया ही करता है और तो ही वीर्य उछलता है। इसीलिए योगसार में इसका ही श्रवण इत्यादि अनेक बोल कहे हैं। (322)
- जिसने अतीन्द्रिय के नाथ को साधा—प्रतीति में लिया, उसे अन्दर में अनन्त आनन्द प्रगट होता है। आनन्द की धारा बहती है, ज्ञान अकेला नहीं होता, साथ में आनन्द की धारा बहती है। (323)
- परम अमृतस्वरूप भगवान है, परन्तु मृतक कलेवर में मूर्छित हो गया है, अन्दर में मूर्छित होने का था, परन्तु बाहर में मूर्छित हो गया। (324)
- भोग के विकल्प की अपेक्षा अनर्थ के विकल्प आत्मा को अधिक नुकसान करते हैं। भोग के विकल्प तो अमुक काल ही होते हैं। (325)
- अतीन्द्रिय अमृत का सागर ही आत्मा है। अकेला अमृत ही भरा है। कितने ही विकल्पों को चूरा करने के बाद इस ओर ढल सकता है। (326)
- यह की यह बात दो-दो, चार-चार घण्टे तक सुनता है और हकार... हकार... आता है, राग का निषेध आता है, यह का यह घोलन चलता है, यह क्या कोई क्रिया नहीं? जड़ की और राग की क्रिया, वही क्रिया होगी? इसे (ज्ञान का) माहात्म्य आता नहीं। इस सत्य का ही हकार आना और राग का निषेध—नकार आना, यही तत्त्वज्ञान का अभ्यास है। (327)
- जगत को अज्ञान ने लूटा है न! ऐसा कोई लुटेरा जगत में नहीं, जिसने भरी दोपहरी जगत को लूटा है। (328)
- जैसे एक लोहखण्ड के बड़े गोले में इतना बल है कि वह नीचे पड़े तो नीचे के पत्थर के चूरा कर डालता है; उसी प्रकार आत्मा में ज्ञानबल, चारित्रबल, वीर्यबल ऐसे अनन्त बल हैं, वह कर्म का और अशुद्धता का चूरा कर डालता है। (329)

- ज्ञानी की वर्तमान पर्याय अन्दर में झुके, इसका नाम जानपना है, धारणा हो गयी, वह जानपना नहीं। आत्मा अनुभव में लेना, इसका नाम वास्तविक जानपना है। (330)
- भगवान की वाणी में चैतन्य हीरा शान पर चढ़ा है, यह वाणी सुनने को मिले, वह भी हीरा का कण है। (331)
- विषय-कषाय की रुचि तो छूटी नहीं और मात्र जानपना है, उस जानपने के नाम से आत्मा को ठगता है, लूटता है, वह जानपना ही नहीं है। सच्चा जानपना होने पर तो विषय-कषाय की रुचि छूट जाती है। (332)
- वास्तव में तो राग से विरक्ति (भिन्नता), उसे शील कहा जाता है। ऐसा शील नरक में भी वेदना को गिनता नहीं। यह तो बहुत धीरज से समझनेयोग्य है। जैसे समुद्र के पानी को सलाई द्वारा उलेचना हो तो कितना धीरज चाहिए! (333)
- जब तक आत्मा में सुख है—ऐसा भास न हो और पर में सुख नहीं—ऐसा भास न हो, तब तक उसे आत्मा का अनादर वर्तता है। (334)
- निचली बात का ठिकाना न हो, उसे ऊपर की बात आ बैठेगी किस प्रकार? पात्रतारूप निचली बात का ठिकाना न हो, उसे ऊपर की बात अर्थात् अध्यात्म की अलौकिक बात किस प्रकार बैठ सकती है? (335)
- मैं बनिया हूँ—ऐसा तो नहीं परन्तु मैं मनुष्य हूँ—ऐसा माननेवाले ने जीव को मार डाला है। मैं अल्प ज्ञानवाला हूँ, मैं राग का करनेवाला हूँ—ऐसा माननेवाले ने जीवन्त जीव को मार डाला है। उसका अनादर करना, वही उसे मारना है। (336)
- इस जीव का अन्दर रुचि से रटन और घोलन वह अन्दर आगे जाने का रास्ता है। स्वरूप के प्रति इसे प्रेम की आवश्यकता है। ज्ञान हीनाधिक हो, उसका कुछ नहीं। (337)
- स्वर्ग में जाने के योग्य परिणाम का भी अभी जिसे ठिकाना नहीं, मनुष्य में जाने के योग्य परिणाम का भी ठिकाना नहीं और धर्म प्राप्त करने के योग्य परिणाम का ठिकाना हो, ऐसा नहीं हो सकता। (338)
- तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ के निकट भी हित की कामना रखना, वह भी भ्रम है, दूसरे

देव-देवला की तो क्या बात! (339)

- अहो! देखो न! प्रत्येक क्षण यह मृत्यु के नजदीक जा रहा है, परन्तु यदि इस आत्मा के सन्मुख नहीं जाये तो मृत्यु के समय यह घबरा में आयेगा। (340)
- अरे! इसने कभी इसकी दरकार नहीं की। बाहर में यहाँ से मिलेगा और यहाँ से मिलेगा, ऐसे बाहर में ही यह व्यर्थ कोशिश करके सम्मेदशिखर में से मिलेगा और अन्यत्र कहीं से मिलेगा, ऐसी भ्रमणा में यह अपने को खो बैठा है। (341)
- बाह्य वैभवों में सुख मानना, वह विष्टा में सोकर उसमें सुख मानने जैसा है। (342)
- आत्मा और राग की सन्धि अतिसूक्ष्म है, बहुत ही दुर्लभ है। दुर्लभ है तो भी अशक्य नहीं है। ज्ञान उपयोग को अतिसूक्ष्म करने से—बारीक करने से आत्मा लक्ष्य में आ सकता है, पंच महाव्रत के परिणाम या शुक्ललेश्या के कषाय की मन्दता के परिणाम, वे अतिसूक्ष्म या दुर्लभ नहीं हैं परन्तु आत्मा अतिसूक्ष्म है। इसलिए उपयोग अतिसूक्ष्म करने से आत्मा जानने में आता है। (343)
- सर्व जीव साधर्मी हैं। कोई विरोधी नहीं। सर्व जीव पूर्णानन्द को प्राप्त होओ! कोई जीव अपूर्ण न रहो, कोई जीव अल्पज्ञ न रहो, कोई जीव विरोधी न रहो, कोई जीव विपरीत दृष्टिवन्त न रहो। सब जीव सत्य के मार्ग में आ जाओ और सुखी होओ! किसी जीव में विषमता न रहो। सब जीव पूर्णानन्दरूप प्रभु हो जाओ। समयसार में गाथा 38 के श्लोक में अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि सर्व जीव आत्मा में मग्न होओ! आहाहा! देखो, ज्ञानी की भावना! स्वयं पूर्णानन्दस्वरूप आत्मा में मग्न होता है, इसलिए सर्व जीव भी पूर्णानन्दस्वरूप में मग्न होकर सुखानुभव करो, ऐसा कहते हैं। (344)
- अरे जीव! एक बार दूसरा सब भूल जा और तेरी निज शक्ति को सम्हाल! पर्याय में संसार है, विकार है—यह भूल जा, और निजशक्ति के सन्मुख देख, तो उसमें संसार है ही नहीं। चैतन्यशक्ति में संसार था ही नहीं, है ही नहीं और होगा भी नहीं। लो, यह मोक्ष! ऐसे स्वभाव की दृष्टि से आत्मा मुक्त ही है। इसलिए एक बार दूसरा सब लक्ष्य में से छोड़ दे और ऐसे चिदानन्दस्वभाव में लक्ष्य को एकाग्र कर तो तुझे मोक्ष

की शंका रहेगी नहीं, अल्प काल में अवश्य मुक्ति हो जायेगी। (345)

- भाई! अभी तो अपना काम कर लेना योग्य है। अरे! माँ-बाप, भाई-बहिन, सगे-सम्बन्धी आदि अनेक कुटुम्बी मरकर कहाँ गये होंगे? उनकी कुछ खबर है? अरे! मुझे मेरे आत्मा का हित कर लेना है—ऐसा इसे अन्दर से लगना चाहिए। आहाहा! सगे-सम्बन्धी सब चले गये, उनके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-भव सब बदल गये। शरीर के अनन्त रजकण कब, कहाँ, कैसे होंगे, इसकी है खबर? इसलिए जो जागता है, वह बचेगा। (346)
- जब देखो तब निगोद के एक शरीर में रहे हुए जीवों के अनन्तवें भाग ही मोक्ष में जाते हैं। आहाहा! उस निगोद में से निकलकर ऐसे मनुष्य के भव मिले और वीतराग की वाणी मिली, वह तो धन्य भाग्य! महापुण्य का थोक हो... मेरु जितना पुण्य का थोक हो, तब ऐसा योग मिलता है। अब काम करना, वह इसके हाथ की बात है। भाई! ऐसे काल में तू तेरा काम कर ले। (347)
- एक विचार आया था कि तीर्थंकर जैसों को माता के गर्भ में आना पड़े, सवा नौ माह पेट में संकुचित होकर रहना पड़े, जन्म लेना पड़े! आहाहा! इन्द्र जिनकी सेवा करने आवे, ऐसे तीर्थंकरों की भी यह स्थिति! अरे रे संसार! यह क्या है? वैराग्य... वैराग्य...! सर्वोत्कृष्ट पुण्य के धनी ऐसे तीर्थंकर को भी माता के गर्भ में रहना पड़े! आहाहा! संसार की अन्तिम स्थिति की बात है। अरे रे! प्रभु! यह संसार! संसार की ऐसी स्थिति विचारने पर आँख में से आँसू बह जाते हैं! (348)
- जैसे आहार लिये बिना चलता नहीं, वैसे हमेशा शास्त्रस्वाध्याय होना चाहिए। स्वाध्याय, वह तो आत्मा का खुराक है। इसलिए उसका रटन लगना चाहिए, उसका व्यसन होना चाहिए। (349)
- हे जिज्ञासु! तू तो निगोद में से बाहर निकला है, मनुष्यपना प्राप्तकर परमभाव को बतलानेवाली जिनवाणी सुनने आया है, सुनता है, तो तू परमात्मारूप से परिणमित हो सके, ऐसा ही है। हम तुझे कहते हैं कि तू स्वभावरूप से परिणमने के योग्य ही है। इसलिए सन्देह न कर, निःसन्देह हो। विश्वास ला। पंचम काल या हीन पुण्य या

न्यूनता को लक्ष्य में न ले, तू पूर्ण परमात्मतत्त्व है और उसरूप परिणमने के योग्य ही है। (350)

- मैं ज्ञायक हूँ... ज्ञायक हूँ... ज्ञायक हूँ—ऐसा अन्दर में रटन रखना, ज्ञायक-सन्मुख ढलना, ज्ञायक-सन्मुख एकाग्रता करना। आहाहा! उस पर्याय को ज्ञायक-सन्मुख झुकाना बहुत कठिन है, अनन्त पुरुषार्थ अपेक्षित है। ज्ञायक तल में पर्याय पहुँची, आहाहा! उसकी क्या बात! ऐसा पूर्णानन्द नाथ प्रभु! उसकी प्रतीति में, उसके विश्वास में, भरोसे में आना चाहिए कि अहो! एक समय की पर्याय के पीछे इतना बड़ा भगवान, वह मैं ही! (351)
- भाई! बापू! यह तो चौरासी के अवतार में भटकते-भटकते मुश्किल से मनुष्य का भव मिला, परन्तु 22-23 घण्टे तो खाने में, पीने में, कमाने में और स्त्री-पुत्र को प्रसन्न रखने में मात्र पाप में जाये और मुश्किल से एकाध घण्टे कुछ सुनने में जाये। बाकी पूरा दिन अकेला पाप... पाप... और पाप का धन्धा करे, जैसे ऐरण की चोरी करके सुई का दान दे, उसके जैसा है। इसे कुछ अन्दर से चौरासी के अवतार की त्रास लगे तो अन्दर में विश्राम का स्थान शोधे। (352)
- ज्ञायक को भजते हुए कभी कोई वापस गिरा है? वापस गिरे, ऐसा बनता ही नहीं, ऐसा वीरवाणी कहती है। अकेला भगवान ज्ञानानन्दस्वभाव है, उस भगवान का मूल्य है, एक समय की पर्याय का भी मूल्य नहीं। त्रिकाल भगवान मूल्यवान है, उसका मूल्य है। ज्ञान में उसके संस्कार डाल! उसका फल तुझे आयेगा, उलझन में आने योग्य नहीं है। भाई! जन्म-मरण रहित होने की बातें बहुत अलौकिक हैं। (353)
- अहो! यहाँ भगवान का विरह पड़ा और तत्त्व की विपरीत श्रद्धा-आचरणवाले को रोकनेवाला कोई रहा नहीं। वस्तु अन्तर की है और लोग बाह्य क्रियाकाण्ड में चढ़ गये! भाई! हम तो वस्तु का स्वरूप जो सत्य है, वह कहते हैं, इसलिए विपरीत श्रद्धावाले को न रुचे तो माफ करना। भाई! विपरीत श्रद्धा का फल बहुत कठोर है। इसलिए तो श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि मेरे दुश्मन को भी द्रव्यलिंग न हो! हमारे व्यक्तिगत किसी के साथ विरोध नहीं है। वे सब भी द्रव्यस्वभाव से तो प्रभु हैं, इसलिए द्रव्य से तो वे साधर्मी हैं; इसलिए हमको समभाव है। (354)

- अहो! इस मनुष्यपने में ऐसे परमात्मस्वरूप का मार्ग सेवन करना, आदर करना, वह जीवन का कोई धन्य पल है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञायक ही है, वह इसे भास में आवे, चाहे जैसे प्रसंग में भी मैं ज्ञायक हूँ... ज्ञायक हूँ, ऐसा भास में आवे, ज्ञायक का लक्ष्य रहे तो उस ओर ढले बिना रहे ही नहीं। (355)
- चौरासी का भवभ्रमण छुड़ानेवाली तीन लोक के नाथ की वाणी सुनने आवे, उसे देव-गुरु-शास्त्र का कितना विनय चाहिए? स्वर्ग में से इन्द्रादि देव भगवान की वाणी कितने विनय-भक्ति और कोमलता से सुनते हैं! जिनवाणी सुनते समय शास्त्र का विनय और बहुमान रखना चाहिए, शास्त्र को नीचे नहीं रखा जाता, शास्त्र के ऊपर कोहनी का टेका नहीं दिया जाता, पैर पर पैर चढ़ाकर शास्त्र श्रवण करने नहीं बैठा जाता, रूमाल या पृष्ठ इत्यादि से हवा नहीं खाई जाती, नींद नहीं ली जाती, प्रमाद से नहीं बैठा जाता—इतनी-इतनी कितनी विनय-बहुमान-भक्ति हो, तब तो जिनवाणी श्रवण की पात्रता है। व्यवहार पात्रता जैसी है, वैसी जानना चाहिए। (356)
- मुनि कहते हैं कि अरे प्रभु! हमें आश्चर्य और खेद होता है कि शरीरादि परद्रव्य से तू प्रत्यक्ष भिन्न है, तथापि उसे मेरा मानता है। अरे! क्या करता है, प्रभु! चौरासी के अवतार में भटकते हुए मुश्किल से मनुष्यपना मिला और ऐसा सत्य सुनने का योग मिला, अब तो देह से भिन्न चैतन्य प्रभु का अनुभव कर। (357)
- जीव ने अपने सहज सुखस्वरूप के लिये एक क्षण भी धीर होकर विचार किया नहीं। यदि विचार करे तो वस्तु बहुत ही सस्ती और सरल है, परन्तु तीव्र जिज्ञासा, धगश और छटपटाहट चाहिए। इस संसार का रस छूट जाये तो आत्मस्वरूप अवश्य प्रगट हो। (358)
- श्रद्धा ऐसी हो कि राग को घटाये, ज्ञान ऐसा हो कि राग को घटाये, चारित्र ऐसा हो कि राग को घटाये। शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता है। क्रमबद्ध की श्रद्धा भी उसे कहा जाता है कि जो राग को घटाये। क्रमबद्ध की श्रद्धा में अकर्तापना आता है। जो होता है, उसे करे क्या? जो होता है, उसे जानता है। जाननेवाला रहते हुए, ज्ञाता रहते हुए राग टलता जाता है और वीतरागता बढ़ती जाती है। वीतरागता बढ़ना, वही शास्त्र का तात्पर्य है। (359)

- प्रत्येक आत्मा भगवानस्वरूप है, प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप चैतन्य रसकन्द है। आहाहा! अभी चातुर्मास में तो हरितकाय—घास ढ़ेर सारी हुई है। उसके ऊपर बिना कारण पैर देकर कुचलकर चलना, वह नहीं होता, भाई! इस एक बारीक टुकड़े में असंख्यात जीव हैं, वे सब भगवानस्वरूप हैं। (360)
- राग का और संयोग का अन्दर निषेध होता है, वह श्रद्धा-ज्ञान की पर्याय है या नहीं? घण्टे, दो घण्टे, चार घण्टे यह की यह बात रगड़ी जाती है, घुटती है, वाँचन में, श्रवण में, विचार में यही बात आया करे, चौबीसों घण्टे इस देह के कार्य, वे मेरे नहीं; राग के कार्य, वे मेरे नहीं—ऐसा घोलन हुआ करे, उस श्रद्धा-ज्ञान में कुछ अन्तर ही नहीं पड़ा? वह क्या ज्ञान की क्रिया नहीं? परन्तु बाह्य क्रियाकाण्ड के आग्रहवाले को अन्तर के श्रद्धा-ज्ञान का कुछ माहात्म्य ही नहीं दिखता। अरे भाई! यह श्रद्धा-ज्ञान का कार्य अन्दर में सम्यक् होता जाता है, वह क्रम से एकदम विकल्प टूटकर निर्विल्प स्वानुभवरूप से हो जायेगा। (361)
- जिस घर न जाना हो, उसे भी जानना चाहिए। वह घर अपना नहीं परन्तु दूसरे का है, ऐसा जानना चाहिए। इसी प्रकार पर्याय का आश्रय करना नहीं है, इसलिए उसका ज्ञान भी नहीं करे तो एकान्त हो जायेगा, प्रमाणज्ञान नहीं होगा। पर्याय का आश्रय छोड़नेयोग्य होने पर भी उसका जैसा है, वैसा ज्ञान तो करना पड़ेगा, तो ही निश्चयनय का ज्ञान सच्चा होगा। (362)
- **मुमुक्षु :** करोड़पति और अरबपति को पुण्यशाली गिनना या सच्चे देव-गुरु-धर्म मिले, उसे पुण्यशाली गिनना?

  पूज्य गुरुदेवश्री : सच्चे देव-गुरु-धर्म का योग मिले, वही वास्तविक पुण्यशाली है। करोड़पति-अरबोंपति पुण्यशाली नहीं, वास्तव में तो पापशाली कहलाते हैं। जो अपने परमात्मतत्त्व को अनुभव करे, वही श्रेष्ठ है और अपने परमात्मतत्त्व को अनुभव करने का कहनेवाले सच्चे देव-गुरु का योग मिलना, वही वास्तविक पुण्योदय है। (363)
- एक-दो घड़ी शरीरादि मूर्तिक द्रव्यों का पड़ोसी होकर ज्ञायकभाव का अनुभव कर।

जैसे राग और पुण्य का अनुभव करता है, वह तो अचेतन का अनुभव है, चेतन का अनुभव नहीं। इसलिए एक बार मरकर भी, शरीरादि का पड़ोसी होकर, घड़ी-दो घड़ी भी ज्ञायकभाव का लक्ष्य करेगा तो तुरन्त आत्मा और राग की भिन्नता हो जायेगी और जैसा तेरा आत्मस्वरूप है, वैसा अनुभव होगा। (364)

- अग्नि का उष्ण स्वभाव शाश्वत् है, गुड़ का मीठा स्वभाव शाश्वत् है, अफीम का कड़वा स्वभाव शाश्वत् है, सूर्य का प्रकाश स्वभाव शाश्वत् है, बर्फ का शीतल स्वभाव शाश्वत् है; इसी प्रकार भगवान आत्मा का ज्ञायकस्वभाव—चेतनास्वभाव शाश्वत् है। ज्ञायकस्वभावी आत्मा स्व-पर को जानने-देखने के अतिरिक्त अन्य क्या करे ?(365)
- जीव जिनवर है और जिनवर जीव है—ऐसी दृष्टि हो, उसे पर्यायबुद्धि छूट जाती है। सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये कितने ही गढ़ उल्लंघकर अन्दर में जाया जाता है। व्यवहार में कितने ही प्रकार की योग्यता हो, संसारभाव जरा भी रुचे नहीं, आत्मा... आत्मा... की धुन लगे, तब सम्यग्दर्शन होता है। (366)
- सूर्य का प्रकाश और अन्धकार, ये दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं, उसी प्रकार सहजात्मस्वभाव, वह अकेला ज्ञानस्वभाव है, सूर्यसमान है और दया-दान आदि के विकल्प वे अन्धकार समान हैं, उन्हें ज्ञानसूर्य से अत्यन्त भिन्नता है। सहजात्मस्वरूप अर्थात् स्वाभाविक है, अकृत है, अकृत्रिम है। उस स्वभाव को और राग को एकता तीन काल में नहीं है। क्या हो! केवलियों का विरह पड़ा। अवधिज्ञानी भी कोई रहे नहीं। जगत को चमत्कार लगे, ऐसा कुछ रहा नहीं। सत्य को स्वीकार करना जगत को कठिन पड़ता है, ऐसा परम सत्य स्वीकार करनेवाला भी महाभाग्यशाली है। (367)
- आचार्यदेव करुणा करके कहते हैं कि हे अन्ध! तुझे व्यापार की बहियाँ आदि अनेक कला का सब जानपना है और तेरे सुख का निधान तेरी वस्तु का तुझे ज्ञान नहीं! तू अन्ध है! तू स्वयं ज्योतिरूप है, सुख का धाम है। उसका तुझे ज्ञान नहीं, भान नहीं, श्रद्धा नहीं और दु:ख के कारणभूत बाह्यपदार्थ का ज्ञान! आहाहा! कैसी बात है! (368)

● आहाहा! क्षण में अनेक प्रकार के विचित्र रोग हो जायें, ऐसा शरीर है। कहाँ शरीर और कहाँ आत्मा! इन्हें कहीं मेल नहीं है। आहाहा! ऐसा दुर्लभ मनुष्य देह मिला है और ऐसा वीतराग का मार्ग महाभाग्य से मिला है, उसे मन का बहुत-बहुत बोझा घटाकर आत्मा को पहिचानने के लिये प्रयत्न करना चाहिए। पाँच इन्द्रिय के झुकाववाला बोझा घटाकर आत्मा को पहिचानने के विचार में रुकना चाहिए। अन्दर अनन्त आनन्द आदि स्वभाव भरे हैं, ऐसे स्वभाव की महिमा आवे, उसे अन्दर पुरुषार्थ शुरु हुए बिना रहता ही नहीं। (369)

● एक विचार आया था कि सरकारी नौकरों को 55-56 वर्ष में नौकरी से उतार देते हैं, तो इन सेठियाओं को ऐसा कोई कायदा नहीं होगा कि 55-56 वर्ष में धन्धे से पृथक् होकर अपने आत्मा का कुछ हित करे? आहाहा! रोटियाँ कम पड़े, ऐसा न हो, पीछे पैसे का पार न हो तो भी निवृत्ति लेकर अपने आत्मा का कुछ हित नहीं करते, उन्हें मरकर कहाँ जाना है? अरे! 60-70 वर्ष तक निवृत्त नहीं होते तो मरकर कहाँ जाना है? अरे! ममता के परिणाम में मरकर तिर्यंच—बकरी आदि के गर्भ में अवतार होगा! (370)

● आत्मा चाहे जैसे संयोगों में भी अपनी शान्ति प्रगट कर सकता है। अपनी शान्ति को प्रगट करने में जगत का कोई बाह्य पदार्थ विघ्न करने में समर्थ नहीं है। चाहे जैसे कठोर प्रसंग आ पड़ें—पुत्र मर जाये, पुत्री विधवा हो, जंगल में अकेला पड़ गया हो और कोलेरा आदि का भयंकर रोग हो गया हो, क्षुधा-तृषा की कठोर वेदना हो या सिंह-बाघ फाड़कर खाने आया हो या चाहे जैसे कठोर प्रसंग आ पड़ें, तो भी उन संयोगों का लक्ष्य छोड़कर अन्दर में आत्मा अपनी शान्ति को प्रगट कर सकने में समर्थ है। बाह्य में रही हुई प्रतिकूलता अन्दर में आत्मशान्ति को रोक नहीं सकती। शास्त्र में तो कहते हैं कि नरक की एक क्षण की पीड़ा ऐसी है कि उसे करोड़ों जीभों से करोड़ों वर्षों तक कहा जाये तो भी वह पीड़ा कही नहीं जा सकती, ऐसी कठोर नरक की पीड़ा है, तथापि वहाँ भी उन संयोगों का और पीड़ा का लक्ष्य छोड़ दे तो आत्मा अपनी शान्ति को प्रगट कर सकता है। भाई! तेरा तत्त्व हाजरा-हुजूर है, उसमें लक्ष्य करके अपनी शान्ति प्रगट की जा सकती है। (371)

- **मुमुक्षु :** भूतकाल के दुःखों को किसलिए याद करना?

  पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसे दुःख फिर से न आवे, इसलिए याद करके वैराग्य करते हैं। मुनिराज भी भूतकाल के दुःखों को याद करके कहते हैं कि मैं भूतकाल के दुःखों को याद करता हूँ, वहाँ कलेजे में चोट लगती है। सम्यग्दृष्टि मुनि हैं, आनन्द का प्रचुर वेदन है, तथापि भूतकाल के दुःखों को स्मरण करके ऐसे दुःख फिर से न आवें, इसलिए वैराग्य बढ़ाते हैं। (372)

- भगवान आनन्द का नाथ चैतन्य चक्रवर्ती है, परन्तु अपने को भूल गया है और भिखारी होकर पर से भीख माँगता है। पैसा लाओ! स्त्री लाओ! कीर्ति लाओ! निरोगता लाओ! ऐसा भिखारी होकर माँगा करता है, परन्तु अपने ही अन्दर आनन्द भरा है, उसके सामने नजर नहीं करता, इसलिए चार गति के दुःखों को भोगता है। शुभराग और अशुभराग की वासना, वह जहर वासना है। जहाँ आनन्द का नाथ है, वहाँ नजर नहीं करता और जहाँ नहीं आनन्द, वहाँ झपट्टे मारता है। (373)

- अभी तो मोटर, ट्रेन, प्लेन आदि के अकस्मात् से कितने ही लोगों के मर जाने का सुनाई देता है। आँख खुले और स्वप्न समाप्त। इसी प्रकार देह और भव क्षण में चला जाता है। हार्टफेल होने पर क्षण में छोटी-छोटी उम्र में चले जाते हैं। अरे! यह सं...सा...र...! नरक में अनाज का एक दाना नहीं मिलता, पानी की एक बूँद नहीं मिलती और प्रतिकूलता का पार नहीं, ऐसी स्थिति में अनन्त बार गया, परन्तु वहाँ से निकला तो सब भूल गया। उसका जरा विचार करे तो उन सब दुःखों से छूटने का रास्ता खोजे। आहा! ऐसा मानवभव मिला है और ऐसा सत्य समझने का योग मिला है, उसमें अपने आत्मा का हित कर लेनेयोग्य है। (374)

- आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। जैसे बर्फ शीतलता की विशाल शिला; उसी प्रकार आत्मा शीतलता की महाशिला है, अनन्त-अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द की विशाल शिला है, अनन्त सर्वज्ञता की विशाल शिला है। आत्मा अर्थात् अनन्त प्रभुता की विशाल शिला है, अनन्त विभुता की विशाल शिला है, ऐसे अनन्त-अनन्त गुणों की पूर्णानन्द से भरपूर विशाल शिला है। वस्तु है, वह सदा काल ऐसी की ऐसी ही रही है, भले नरक-निगोद आदि के अनन्त भव किये, तथापि वस्तु ज्ञानानन्दस्वरूप,

वह तो सदाकाल ऐसी की ऐसी रही है। उसका अन्दर में विश्वास आना चाहिए। (375)

- आत्मा अजायबघर है। उसमें ज्ञान और आनन्द के अनन्त कमरे भरे हैं कि जिसमें से ज्ञान और आनन्द निकाला ही करे तो भी कम न हो, ऐसा अजायबघर आत्मा है, उसकी अन्तर से महिमा... महिमा... आना चाहिए। (376)

- **मुमुक्षु :** सम्यक्त्वसन्मुख जीव, तत्त्व के विचार में राग को अपना जानता है या पुद्‌गल का जानता है?

  पूज्य गुरुदेवश्री : सम्यक्त्वसन्मुख जीव राग को अपना अपराध है, ऐसा जानता है और अन्दर उतरने के लिये राग, वह मेरा स्वरूप नहीं; राग, वह मैं नहीं—ऐसा जानकर उसका लक्ष्य छोड़कर अन्दर में उतरने का प्रयत्न करता है। (377)

- ...यहाँ तत्त्व की बहुत ऊँची बात आयी, इसलिए नीचे की बात का कुछ नहीं, ऐसा नहीं होता। स्वयं को अन्दर से उगना चाहिए। कोई कहे, इसलिए नहीं परन्तु स्वयं को दरकार चाहिए। जिसे भविष्य का निश्चित नहीं, उसे तो त्रास हो जाना चाहिए कि अरे! भविष्य में मैं कहाँ जाऊँगा! (378)

- (दिन प्रतिदिन बननेवाले देहविलय के क्षणभंगुर प्रसंगों को सुनकर वैराग्य भरे शब्दों में पूज्य गुरुदेवश्री कहते हैं कि—) हे भाई! यह देह तो क्षण में छूट जायेगी। देह का संयोग तो वियोगजनित ही है। जिस समय आयुष्य की स्थिति पूर्ण होनी है, उस समय तेरे कोटि उपाय भी तुझे बचाने को समर्थ नहीं है। तू लाख रुपये खर्च कर या करोड़ खर्च, चाहे तो विलायत से डॉक्टर ला, परन्तु यह सब छोड़कर तुझे जाना पड़ेगा। देहविलय की ऐसी नियत स्थिति को जानकर, वह स्थिति आ पड़े, उससे पहले तू चेत जा। तेरे आत्मा को चौरासी के चक्कर में से बचा ले। आँख बन्द होने से पहले जागृत हो। आँख बन्द होने के पश्चात् कहाँ जायेगा, इसकी तुझे खबर है? वहाँ कौन तेरा भाव पूछनेवाला होगा?—तो यहाँ, लोग ऐसा कहेंगे और समाज ऐसा कहेगी, ऐसे मोह के भ्रमजाल में फँसकर तेरे आत्मा को किसलिए परिभ्रमण करा रहा है? (379)

- **मुमुक्षु :** आत्मा को प्राप्त करने के लिये पूरे दिन क्या करना चाहिए?

  पूज्य गुरुदेवश्री : पूरे दिन शास्त्र का अभ्यास करना, विचार-मनन करके तत्त्व का निर्णय करना और शरीरादि से तथा रागादि से भेदज्ञान करने का अभ्यास करना चाहिए। रागादि से भिन्नता का अभ्यास करते-करते आत्मा का अनुभव होता है। (380)

- भाई! तू सत् की गहरी जिज्ञासा कर कि जिससे तेरा प्रयत्न बराबर चलेगा, तेरी मति सुलटी होकर आत्मा में परिणम जायेगी। सत् के संस्कार गहरे डाले होंगे और इस भव में कार्य न हुआ तो दूसरी गति में सत् प्रगट होगा। सातवें नरक के नारकी को वेदना का पार नहीं होता परन्तु अन्दर में से पूर्व संस्कार जागृत होने पर सम्यग्दर्शन पा जाता है। इसलिए सत् के गहरे संस्कार अन्दर में डाल, भाई! गहराई से सत् के संस्कार डाल। ऊपर-ऊपर से तो संस्कार अनेक बार डाले हैं परन्तु गहराई से एक बार यथार्थ संस्कार डाल तो दूसरी गति में भी सम्यग्दर्शन प्रगट होगा। (381)

- अरे! पूरे दिन धन्धा और स्त्री-पुत्र की ममता में पाप में जीवन व्यतीत करता है, उसका क्या होगा? मात्र ममता... ममता... ममता के फल में मरकर ढोर में जायेगा। यहाँ बनिया करोड़पति हो और मरकर सूकर हो और विष्टा खायेगा! इसे मेरा क्या होगा, ऐसा निश्चित करना चाहिए न! कि मैं मरकर कहाँ जाऊँगा! यहाँ तो थोड़ा काल रहना है, फिर मेरा क्या होगा और कहाँ जाऊँगा! यह निर्णय करना चाहिए।

  मुमुक्षु : कहाँ जाऊँगा, यह निश्चित हो सकता है?

  पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, शास्त्र से परिणाम मिलावे तो निश्चित हो सकता है। (382)

- **मुमुक्षु :** श्रावण-वाचन-मनन करने पर भी आत्मा का अनुभव क्यों नहीं होता?

  पूज्य गुरुदेवश्री : वाँचन आदि तो सब बहिर्मुख हैं और आत्मवस्तु पूरी अन्तर्मुख है। इसलिए इसे अन्तर्मुख होना चाहिए। पर को जानने का उपयोग स्थूल है, उसे सूक्ष्म करके अन्तर्मुख करना है। अन्तर में गहराई में जाये तो अनुभव होता है। ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक हूँ, ध्रुव हूँ—ऐसे अन्तर में संस्कार डाले तो आत्मा का लक्ष्य होकर अनुभव हो। (383)

- काल में वर्षा पड़ती है, काल में वृक्ष खिलते हैं, काल में चन्द्र खिलता है, काल में

पशु घर आते हैं, स्वाति नक्षत्र के काल में सीप में पानी पड़ने पर मोती पकते हैं, वैसे उत्तम देव-गुरु के महान योग के काल में तू आया और पूज्य पदार्थ अनुभव में न आवे, यह गजब तमाशा है! (384)

- अहो प्रभु! तुझमें प्रभुता पड़ी है, तू स्वयं ही प्रभु है। तेरे गर्भ में परमात्मपना पड़ा है, उसमें से संसार प्रसवे, ऐसी तुझमें शक्ति ही नहीं। तुझमें केवली होने की खान पड़ी है। (385)
- भाई, बापू! व्यवहारनय के कथन सब ऐसे हैं कि उनमें तू ठगा मत जाना। नहीं तो अनन्त काल में प्राप्त हुआ अवसर व्यर्थ जायेगा, हों! (386)
- भगवान सर्वज्ञ ऐसा कहते हैं कि तू पहली चोट में हमारे सामने देखना छोड़ दे और भिन्न वस्तुभूत शुद्ध ज्ञानमय आत्मा को सीधे प्राप्त कर। सीधे उसके सामने देखकर प्राप्त कर... आहाहा! (387)
- पहले से ही संस्कार डालना चाहिए कि मैं सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, परमात्मा हूँ। (388)
- करुणा से कहा है कि अरे मूढ़ मति! हम जो पुण्य-पाप भाव को अचेतन कहते हैं, जड़ कहते हैं, पुद्‍गल कहते हैं, रूपी कहते हैं, उन्हें तू आत्मा मानता है, तो महा अपराधी है; जा नरक-निगोद में, जा पुद्‍गल की खान में! चैतन्य की खान में नहीं जाया जायेगा। (389)
- आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! तेरा आत्मा शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप है। ऐसा का ऐसा ही है, उसमें कुछ भी न्यूनता आयी ही नहीं। भले वह नरक-निगोद में भटका, परन्तु जरा विकृति आयी ही नहीं। इसलिए तू प्रसन्न हो, प्रसन्न हो! (390)
- तेरे समीप में पड़ा हुआ (ऐसा तेरा आत्मा), उसकी भावना कर न! दूर पड़े हुए की भावना क्या करता है? (391)
- आत्मा में परमेश्वर होने का ही गुण है, पामर होने का और पामर रहने का गुण है ही नहीं। (392)
- यह तो अनादि से नहीं किया हुआ कार्य है, यह तो बहुत ही शान्ति और धीरज का

कार्य है। एक ओर का पक्षघात हो जाना चाहिए कि शरीर-वाणी-मन-विकल्प, वह मेरा जीवन ही नहीं है। (393)

- मात्र दु:ख का वेदन, वह आत्मा ही नहीं; अनात्मा है। आहाहा! स्त्री-पुत्र आत्मा नहीं, शरीर आत्मा नहीं, परन्तु पुण्य-पाप का मात्र दु:ख का वेदन, वह आत्मा ही नहीं; अनात्मा है। (394)

- **मुमुक्षु :** साहेब! अनुभव होता नहीं तो हमारा क्या दोष है?

  पूज्य गुरुदेवश्री : ए... यह पर का उत्साह आता है, यही दोष है और अपना उत्साह नहीं आता, यही दोष है। पर में ही सावधानी रखता है और अपने में सावधान नहीं होता, यही दोष है। पर का माहात्म्य आता है और अपने स्वभाव का माहात्म्य नहीं आता, यह ही दोष है। लो! संक्षेप में यह दोष है। (395)

- अरे! बाहर के संग में किसके साथ सम्बन्ध और किसको बुरा लगाना! और कितना रहना! अरे! विकार का संग भी वस्तु को कहाँ है? असंग चैतन्य को पर का संग नहीं और विकल्प का भी संग नहीं। (396)

- मेरी चीज़ ज्ञायकभाव से कभी छूटी ही नहीं और राग को कभी स्पर्शी ही नहीं—ऐसी दृष्टि होने पर सम्यग्दर्शन होता है। (397)

- जिसे चैतन्य का लक्ष्य बँधा है, उसका जोर चैतन्य की ओर झुक रहा है... यही स्वभाव है, यही स्वभाव है—ऐसा स्वभाव में ही जोर होने से हम उसे कम ऋद्धिवाला कैसे देखें? मिथ्यादृष्टि होने पर भी वह सम्यक्त्वसन्मुख हो गया है, वह सम्यक्त्व लेनेवाला ही है। (398)

- केवली को जानकर तेरा केवलीपना निश्चित कर, ऐसा भगवान ने उपदेश किया है। स्वभावसन्मुख जा, द्रव्य के अभिमुख जा, यह एक ही भगवान का उपदेश है। चारों अनुयोग में यह एक ही बात है। (399)

- जैसे लकड़ी की अग्नि में ऊपर राख दिखायी देने पर भी अन्दर अग्नि सुलगती होती है, अग्नि के ऊपर की क्षाररूप राख अग्नि से भिन्न ही है, इसी प्रकार राग भी चैतन्य

के क्षार समान होने से चैतन्य से भिन्न की भिन्न है। उष्णता और अग्नि एकरूप है, वैसे ज्ञान और आत्मा एकरूप है। (400)

- मेरे स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में पर का अभाव है—ऐसा निर्णय करो और फिर मेरे स्वभाव में विभाव का भी अभाव है, ऐसा निर्णय करो। (401)
- अपने परमेश्वर का जीव को माहात्म्य नहीं आता। थोड़े मन्दकषाय हो जाये, उसका माहात्म्य आता है। थोड़ा शास्त्र का ज्ञान हो जाये तो उसको लगता है कि मैं बहुत जानता हूँ, थोड़ी भेदवाली श्रद्धा हो जाये तो उसको लगता है, मेरी श्रद्धा पक्की हो गयी है। अरे भाई! वह परलक्ष्यी ज्ञानादि की कुछ महिमा नहीं है। उनकी महिमा स्वभाव की महिमा की दृष्टि को रोकती है। (402)
- अब धूल को देखना रहने दो! देखनेवाले को देखो! देखनेवाले को देखना, वह वस्तुस्वरूप है, इसलिए देखनेवाले को देखो। (403)
- भाई! तेरी जेब में सब भरा है। निकालकर खा, इतनी ही देर है! तेरी शक्ति में अनन्त ज्ञानादि भरे पड़े हैं, कौतूहल कर। (404)
- हटना है कहाँ? पुण्य-पापरूप मैं हो गया हूँ, ऐसा इसने माना है परन्तु वह मैं नहीं, बस इतनी बात है। मान्यता ही बदलनी है। तेरी दृष्टि फेर से संसार है और मैं पुण्य-पापरूप हुआ ही नहीं—ऐसी दृष्टि और अनुभव करना, वही मुक्ति है। ऐसा अन्तर स्वीकार करना, वह ही मुक्ति कहो या मुक्ति का पन्थ कहो। (405)
- आहाहा! जातिस्मरणज्ञान में सामनेवाले का पूर्व देह ज्ञात नहीं होता, आत्मा ज्ञात नहीं होता, तथापि निर्णय कर लेता है कि यह आत्मा ही सम्बन्ध में था। इतनी तो जातिस्मरण की सामर्थ्य! तो केवलज्ञान की कितनी सामर्थ्य होगी!! मतिज्ञान की पर्याय भी इतना निरालम्बनरूप से काम करे तो केवलज्ञान के निरालम्बपने की क्या बात! (406)
- अहो! अन्तर में अभिप्राय की और मिथ्या अभिप्राय की क्या कीमत है, इसकी जगत को खबर नहीं है। राग के कण से लाभ हो, ऐसा माना, उसने चैतन्य को लूट लिया। (407)
- शरीर के नाम से भी ऐसा रँग गया है कि घोर निद्रा में भी उसका नाम ले तो वहाँ

बैठा हो जाये! इसी प्रकार आत्मा में ऐसा रँग जाये कि चैतन्य ज्ञानज्योति हूँ—स्वप्न में भी वही बात आवे। जिसे जिसकी लगन लगी हो, उसे स्वप्न भी वे ही आते हैं। हम आनन्द और शुद्ध चैतन्य हैं; पुण्य और पाप, वह हम नहीं। (408)

- अरे! दृष्टि के पंथ को निर्मल न करे और ऐसा आत्मा न छाँटे, तब तक इसका कल्याण हो, ऐसा नहीं है। (409)
- क्रमबद्ध की चर्चा में क्रमबद्ध की चर्चा नहीं परन्तु अकर्तापने की चर्चा है। ज्ञानस्वभाव अकर्ता सिद्ध करके पुरुषार्थ कराना है। (410)
- अहो! अस्सी वर्ष की आयुवाला, बीस वर्ष से लेकर साठ वर्ष तक इस भव की चिन्ता करता है, परन्तु अस्सी वर्ष बाद का जो समय, उसकी जरा भी चिन्ता नहीं करे, यह तो कैसी ढीटाई। अस्सी वर्ष के बाद का जो पहला समय वह पूरा भव, इसी आत्मा का है। कोई दूसरे आत्मा का वह भव नहीं है। धूप-छाया के बीच अन्तर नहीं है, इसी प्रकार दो भव के बीच अन्तर नहीं है, इसलिए दूसरे भव की तो चिन्ता कर! (411)
- यह पैसेवाला और यह अच्छे निरोग शरीरवाला, ऐसा न देख, परन्तु यह केवली हो गये, यह पूर्ण हो गये और मुझे पर्याय में अभी अपूर्णता है, ऐसा देख न! (412)
- किसी दिन देखा नहीं, ऐसे रॉकेट का भरोसा करता है परन्तु एक समय में इन सब पदार्थों को जान ले, ऐसी शक्ति का भरोसा तो ला!(413)
- परमाणु शुद्ध होने के पश्चात् वापस अशुद्ध हो जाता है और जीव शुद्ध होने के बाद शुद्ध ही रहता है। इसलिए परमाणु बन्धनस्वभावी ही है और जीव मोक्षस्वभावी ही है। परमाणु में शुद्ध होने की योग्यता है और जीव में बन्ध होने की योग्यता है। (414)
- सघन वृक्षों के वन में छाया माँगनी नहीं पड़ती, स्वयं मिल जाती है; उसी प्रकार आत्मद्रव्य के समक्ष याचना नहीं करनी पड़ती, परन्तु पूर्णानन्द के समीप दृष्टि पड़ते ही छाया स्वयं मिल जाती है, माँगनी नहीं पड़ती। हे जिनेन्द्र! तुम तो वीतराग हो, इसलिए किसी को कुछ देते नहीं, किसी से कुछ लेते नहीं। परन्तु वृक्ष की छाया की भाँति तेरी शरण जो लेता है, उसे स्वयं शरण मिल जाती है। आत्मद्रव्य की दृष्टि करने से निःशंक है कि आत्मा ऐसे कृपा करेगा ही। (415)

- इस राग का और निमित्त का माहात्म्य आया है, परन्तु वस्तु पूरी अन्दर पड़ी है, उसका माहात्म्य नहीं आता। श्रीमद् राजचन्द्र ने तो कहा है कि जगत को सृष्टि का गुप्त चमत्कार भासता ही नहीं अर्थात् कि अन्दर में पूरी शक्ति पड़ी है, वह भासित होती नहीं। (416)
- यह नजर करे कि पर के कार्य मेरे नहीं हैं, वहाँ दु:ख हल्का हो जाता है। (417)
- अपने भगवान के साथ जीव ने तकरार की है और सुख के लिये अन्यत्र भटकता है। (418)
- आत्मा अर्थात् कि समझण का पिण्ड... ज्ञान का पिण्ड... बस इसमें तो समझना... समझना... समझना... ही एक आता है, दूसरा कुछ करने का आता नहीं!—परन्तु समझना, वह करना नहीं?—समझना ही एक करना है। परन्तु समझने का करना, ज्ञान करना, उसका इसे माहात्म्य नहीं आता। (419)
- अटकने के स्थान अनेक हैं। अन्दर आने का मार्ग एक ही है। जीव को कहीं न कहीं मिठास रह जाती है। अरे! चाल की भी मिठास होती है! हाथी जैसी मदमस्त चाल हो तो उसकी भी मिठास! वह तो स्थूल है। सूक्ष्म में तो राग की ही मिठास होती है... धारणा ज्ञान हो जाये और समझाना आ जाये तो उसकी मिठास आ जाती है, इस प्रकार कहीं न कहीं अटक जाता है। अन्दर में कुछ और कुछ भी शल्य रहता न हो तो आत्मा की ओर ढले बिना रहे ही कैसे? (420)
- **मुमुक्षु :** आपकी वाणी भी ऐसी है कि तत्काल मोक्ष हो।

  पूज्य गुरुदेवश्री : मोक्ष ही है। दृष्टि अन्तर में की, इसलिए मोक्ष ही है। अन्दर में मोक्ष पड़ा है और दृष्टि की इसलिए मोक्ष ही है। फिर थोड़ी देर लगे, उसका कुछ नहीं। (421)
- गुरु कहते हैं कि तुझमें तू समा; गुरु की प्रथम यह आज्ञा है। प्रथम दृष्टि में वीतराग, ज्ञान में वीतराग, स्थिरता में वीतराग। तीनों काल के तीर्थंकरों का यह हुक्म है। (422)
- सबके परिणाम की जवाबदारी सबके ऊपर है। (423)
- शरीर को गौण करो, पुण्य-पाप को गौण करो, अल्पज्ञता को गौण करो तो गौण

करते-करते जो बाकी रह जाये, वह पूरा आत्मा है। (424)

- अन्तर्मुख और बहिर्मुख, यह दो ही बड़ी बात है। यह बात जैनशासन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं हो सकती। वस्तु पूरी अन्तर्मुख पड़ी है, उसने अन्तर्मुख होना, यह बात जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र हो नहीं सकती। क्योंकि यह वस्तुस्थिति है। इसलिए जहाँ वस्तुस्थिति हो, वहाँ ही यह बात होती है। (425)
- 'बड़े की शरण में बैठे हुए को क्या चिन्ता, सेवक हुए निश्चिन्ता'; अरे! माँ-बाप की गोद में बालक बैठा हो, उसे भी चिन्ता नहीं होती तो भगवान की गोदी में बैठा, उसे भव हो—यह होता ही नहीं, जिसे भगवान जँचा और मैं भी भगवान हूँ, ऐसी प्रतीति आयी, उसे भव होते ही नहीं। (426)
- अहो! शरीर के ऊपर प्रहार पड़ते हों और अन्दर आत्मा में शान्ति का वेदन चलता है। दुनिया देखती है कि दु:खी है, ज्ञानी देखते हैं कि सुखी है। (427)
- सम्यग्दर्शन अर्थात् तो भाई! पूरा परमात्मा दृष्टि में बैठ गया। (428)
- यह तो ऐसी बात है कि सादि-अनन्त आनन्द... आनन्द हो जाता है और संसार अनादि शान्त हो जाता है। उसका फल महान तो उसका कारण भी महान है तो उसका आधार भी महान है—ऐसा इसे प्रथम नि:शंकरूप से भासित होना चाहिए। फिर अन्तर में प्रयोग होता है। (429)
- सत् जैसा है, वैसा ज्ञान में न आवे तो वह जवाब नहीं देता, सम्यग्ज्ञान नहीं होता, दृष्टि नहीं होती, अनुभव नहीं होता। श्रीमन्त को कोई भिखारी कहे तो वह जवाब नहीं देता; इसी प्रकार सत् जैसा है, वैसा स्वीकार नहीं करोगे तो सत् जवाब नहीं देगा। (430)
- अकेले शास्त्र अभ्यास में ही जो लग रहा है, उसे स्वभाव में आने के लिये शास्त्राभ्यास का निषेध किया है। परन्तु उसे सुनकर कोई अपढ़ स्वभाव में तो जा नहीं सकता और शास्त्राभ्यास में प्रवर्तता नहीं, तो वह तो निश्चयाभासी है। (431)
- जैसे तेल पानी के प्रवाह में ऊपर का ऊपर तैरता है। पानी के दल में प्रविष्ट नहीं होता, इसी प्रकार विकार चैतन्य के प्रवाह में ऊपर का ऊपर तैरता है, चैतन्य दल में प्रविष्ट नहीं होता। (432)

- पृथक् वस्तु को पृथक् करने की तेरी ताकत नहीं तो तू नपुंसक है। पृथक् तो है ही परन्तु पृथक् माना नहीं; इसलिए पृथक् मानने में वीर्य चाहिए है। (433)
- विष्टा के टोकरे में रत्न पड़ा हो तो भी वह रत्न ही है। उसी प्रकार शरीर चाहे जैसा ढोर का हो, व्यन्तरी देवी का हो परन्तु अन्दर में चैतन्य रत्न का भान हुआ है, उसे ऐसा उल्लास आ जाता है कि अहो! ऐसा भगवान मेरे पास है और मैं कहाँ देखने जाऊँ! ऐसे उल्लास में अन्दर डोल जाता है। (434)
- जिसे वास्तव में ऐसा लगता है कि मेरा जीवन निष्फल गया, वह तो सफलता का मार्ग लेता है। (435)
- स्वभाव का माहात्म्य करने के लिये यह बात कही जाती है। मेरे अन्तर में आनन्द भरा है। भगवान कहते हैं और मुझे भासित होता है। यह राग तो कृत्रिम और दुःखरूप है, इसलिए आनन्दस्वभाव पर दृष्टि कर तो समाधान और शान्ति होगी। (436)
- **मुमुक्षु :** इसमें (तत्त्व अभ्यास में) कमाई क्या होगी?

  पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें कमाई यह होगी कि यह स्वयं तीन लोक का नाथ होगा, केवलज्ञान का बादशाह होगा, यह कमाई है। अरे! श्रद्धा-ज्ञान हुए, वहाँ ही यह केवलज्ञान का बादशाह हो गया। (437)
- मिथ्यात्व, वही संसार है और सम्यक्त्व, वह मुक्ति है।'अनुभव की इतनी महिमा है कि एक आत्मा का अनुभव हुआ, इसलिए बारह अंग की-पठन की खटक रही नहीं, पंच महाव्रत की गिनती रही नहीं, व्यवहार श्रद्धा की अपेक्षा रही नहीं। (438)
- जिसने दृष्टि में मुक्तिधाम देखा है, राग से और संयोग से पृथक् चैतन्य गोला देखा है, तो मुर्दे को जैसे पॉलिश लकड़ी से जलावे परन्तु प्रीति नहीं है—ऐसे ज्ञानी राग के भाव से मर गये हैं। एक सचेतन—ज्ञान ज्योति से जीवन है। साक्षात् ज्योति अनादि-अनन्त, उससे जीवन है। (439)
- जिसे मैं दुःखी हूँ, ऐसा लगता है, वह सुख प्राप्त करने की ओर उन्मुखता करता है। परपदार्थ में ठीकपना और अठीकपना लगना, वही दुःख का लक्षण है, अपनी शान्ति के लिये पर का आश्रय लेना पड़े, वही दुःख है। (440)

- जैसा भगवान का स्वभाव है, वैसा ही मेरा स्वभाव है, परन्तु अहो! इसे भरोसे की धार पर चढ़ाना, श्रद्धा में लेना, इसके अस्तित्व में यह मैं हूँ, ऐसी प्रतीति करना! अहो! यह निर्विकल्प दृष्टि बिना होता ही नहीं। (441)
- विकार की कीमत छूट जाये और स्वभाव की कीमत बढ़ जाये अर्थात् विकार मन्द हो जाये, पंगु हो जाये। विकार की कमर टूट गयी, विकार की रुचि गयी और स्वभाव की कीमत आयी, फिर अस्थिरता का राग रहता है। स्थिरता होने पर वह भी छूट जाता है। (442)
- **मुमुक्षु :** किस प्रकार सुनना?

  पूज्य गुरुदेवश्री : यह... आत्मा को राग से जरा भिन्न करके सुनना चाहिए। मैं सिद्ध हूँ—ऐसा लक्ष्य प्रथम करके सुनना। यह तो, भाई! परमेश्वर की बातें हैं। परमेश्वर कैसा हुआ जाये, उसकी बातें हैं। (443)
- निमित्त में मधुरता उसे लगती है कि जिसे उपादान में मधुरपना प्रगट हुआ है। आत्मा के रस का रसिक जीव है, उसे भगवान की वाणी मीठी लगती है। जो आत्मा में से कमाई करके आया है, उसे वाणी में भी मिठास लगती है। (444)
- अहो! क्षण में मर जाना है और ममता का पार नहीं! (445)
- लाखों शास्त्रों और चारों अनुयोगों में एक ही बात की है कि तेरी बहिर्मोह दृष्टि ही तुझे अन्तर्मुख होने में विघ्नरूप है। उपाय भी एक है। विघ्न करनेवाली भी एक ही है। आत्मज्ञान एक ही उपाय है और बहिर्मोह दृष्टि एक ही विघ्नरूप है। (446)
- धीर हो, भाई! धीर हो! वीतराग के घर की दृष्टि प्राप्त करना, बहुत अलौकिक बात हैं। वह दृष्टि हुई, इसलिए तो उसकी मुक्ति हो गयी। (447)
- अपना चैतन्य भगवान जिनस्वरूप है। उसकी अन्तर्दृष्टि करके—अर्न्तदर्शन करने से निद्धत और निकाचित कर्म का चूरा हो जाता है, तब भगवान के दर्शन से कर्म का चूरा व्यवहारनय से कहा जाता है। (448)
- अन्तर में दृष्टि लगाना, वही आत्मा की खुराक है। श्रद्धा-ज्ञान का बारम्बार अभ्यास करना, वही आत्मा की खुराक है। (449)

- हे भाई! सत् को समझे बिना तुझे कोई शरण नहीं होगा। आँख बन्द हुई वहाँ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सब अनजाना... अनजाना... हो पड़ेगा।... अन्दर के जाननेवाले को जिसने जानता किया होगा, वह जहाँ जायेगा, वहाँ जागृति रहेगी। (450)
- मिथ्यात्व, वही बड़े में बड़ा कषाय है, तत्त्वनिर्णय करते-करते वह मन्द हो जाता है। निर्णय पूरा हो गया, तो उसका अभाव हो जायेगा। (451)
- देहदेवल में सिद्धपरमात्मा मैं स्वयं ही विराजता हूँ। (452)
- सब बात करके कहना है एक ही कि द्रव्यसन्मुख हो पहले रुचि से और पश्चात् पुरुषार्थ से; यह सब इसकी टीका है। (453)
- (जादूगर लड़की के दो टुकड़े करके जीवित करने की बात चलने पर पूज्यश्री ने कहा कि) अरे! उसमें क्या था? विद्या आदि से बड़ा सैन्य खड़ा करे, मार डाले, जीवित कर डाले, परन्तु उसमें आत्मा को क्या लाभ? ... उस ... राग से ज्ञान की भिन्नता के टुकड़े कर दे तो वह वास्तविक कहलाये। (454)
- अपनी भूमिका के योग्य होते विकारी भावों को जो छोड़ना चाहता है, वह अपनी वर्तमान भूमिका नहीं समझ सका, इसलिए उसका ज्ञान मिथ्या है। और जिसे वर्तते विकारी भावों का निषेध नहीं आता परन्तु मिठास वेदता है तो वह भी वस्तुस्वरूप समझा नहीं। इसलिए उसका ज्ञान मिथ्या है। ज्ञानी को तो राग को रखने की भावना होती नहीं और राग को टालने की आकुलता होती नहीं। (455)
- श्रीमद् जैसे भी ईडर के पहाड़ पर बैठकर श्लोकों की स्वाध्याय करते थे। कोई कहे कि परन्तु निर्विकल्प हो जाये न! स्वाध्याय तो शुभराग है! तो वह स्वच्छन्दी है, वह मिथ्यात्व में निर्विकल्प हो गया है। (456)
- सर्वज्ञ की वाणी से भी मैं पूरा न पड़ूँ ऐसा, वह मैं हूँ कौन? उसका जिसे माहात्म्य आया है। और उस माहात्म्य का भासित होना, वही उसे करने का कर्तव्य है। (457)
- पूर्व में जो रामचन्द्र आदि महापुरुष हुए और तीर्थंकर हुए, वे सब केवलज्ञान होने से पहले मुनि अवस्था या गृहस्थाश्रम में वस्तु का स्तवन बारम्बार करते थे कि वस्तु ऐसी अचिन्त्य है, पर्याय का ऐसा अचिन्त्य सामर्थ्य है, परमाणु की ताकत इतनी है,

उसकी पर्याय की ताकत इतनी है—ऐसे वस्तु का चिन्तवन-स्तवन करते थे और भगवान का भी स्तवन करते थे। (458)

- यह कहीं ऐरे-गेरे का मार्ग नहीं, परन्तु तीर्थंकर और चक्रवर्ती भी जिस मार्ग से विचरे हैं, ऐसा महान मार्ग है। जिसके फल में सादि-अनन्त की शान्ति हो जाये, ऐसा परमसत्य मार्ग है। (459)
- मुझे मेरे गुण-पर्याय की आवश्यकता है और दूसरे की आवश्यकता नहीं, इसका नाम वैराग्य है और अपने में जो है, उसकी अपेक्षा और अपने में जो नहीं, उन सबकी उपेक्षा, ऐसे अपने अस्तित्व का भान होना, वह ज्ञान है। (460)
- पूरा चिदानन्द पर्वत सम्मेदशिखर यहाँ अन्दर में स्थित है, उस पर अन्तर्मुख होकर अनन्त तीर्थंकर मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। (461)
- देवों को जैसे कण्ठ में से अमृत झरता होने से भोजन की इच्छा उत्पन्न नहीं होती, उसी प्रकार धर्मी को अन्तर में से अमृतरस झरता होने से राग का रस टल गया है। (462)
- मेरा तत्त्व सदा मुझे अनुकूल ही है। जितनी चैतन्य कल्पवृक्ष की एकाग्रता करूँ, उतना मिलता ही है। मुझे दूसरे की आवश्यकता नहीं। (463)
- वस्तु में राग-द्वेष और मिथ्याश्रद्धा की गन्ध ही नहीं। शक्ति में तो अकेला सिद्धपद ही पड़ा है। उसकी दृष्टि होने पर, पर्याय में उसका ही इन्लार्ज होता है। (464)
- जैसे शरीर, स्त्री आदि परद्रव्य बिना नहीं चलता—ऐसा लेकर बैठा है, वैसे एक बार ऐसा तो ले कि मुझे मेरे आत्मा की दृष्टि के बिना एक कदम नहीं चलता है, ले! मेरे द्रव्य बिना मुझे एक क्षण भी नहीं चले, ऐसा ले! (465)
- स्वभाव और राग के साथ इसने गाँठ बाँधी है, उस गाँठ को एक क्षण भी यह तोड़े तो राग से पृथक् परमात्मा इसे हाथ में आता है। (466)
- तराजू में मेरु नहीं तौला जाता है—ऐसा कहते हैं। परन्तु यहाँ तो तराजू में मेरु तौला जाता है। श्रद्धा ने बड़े पहाड़ को—चैतन्य को तौला है। (467)
- पर से एकत्व, वही अनादि का एक ही रोग है। ओहो! उसका ही इसे दुःख है। पर

से विभक्त भेदविज्ञान, वह एक ही उपाय है। बस! पूरे समयसार में पहले से ठेठ तक यह एक ही बात है। (468)

- भाई! बापू! तेरी परमेश्वरता का आधार तेरा द्रव्य है। तुझे परमेश्वर होना हो तो तेरी परमेश्वरता तेरे अन्तर में खोज। (469)
- अरे जीव! अनन्त संसार में परिभ्रमण करते हुए वह बहुत दुःख सहन किये; नरकादि के घोर में घोर दुःखों से भी तू इस पार निकल गया। परन्तु .... विराधकभाव से; यदि एक बार आराधकभाव से सब दुःखों से एकदम निकल जा अर्थात् कि चाहे जैसी प्रतिकूलता आवे तो भी आराधकभाव से तू डिगे नहीं तो फिर से इस संसार का कोई दुःख तुझे न आवे और तेरा सुखधाम तुझे प्राप्त हो। (470)
- मेरी चैतन्यस्वरूप चीज़ तो आनन्द से ऐसी की ऐसी है। मेरे धाम में किसी ने प्रवेश किया ही नहीं। राग, राग में रहा है। ऊपर-ऊपर रहा है। मेरे स्वरूप में उस किसी का प्रवेश हुआ ही नहीं, मेरा कुछ खोया नहीं। मेरा कुछ कम हुआ नहीं। ऐसा जानकर, हे भाई! तू प्रसन्न हो... प्रसन्न हो। (471)
- जिसकी दृष्टि में चैतन्यधाम पड़ा है, जिसकी दृष्टि क्षयोपशमभाव के एक अंश का भी विश्वास नहीं करती, जिसकी दृष्टि में राग और निमित्त का विश्वास भी उड़ गया है, ऐसे समकिती को द्रव्य प्रत्यय उदय में आने पर भी बन्धन नहीं है। उसकी दृष्टि में तो चैतन्यधाम पड़ा है। (472)
- **मुमुक्षु :** यह आत्मा भगवान की जाति का ही है न?

  पूज्य गुरुदेवश्री : यह भगवान ही है, भगवान की जाति का क्या? भगवान ही है।

  मुमुक्षु : साहेब! आपने तो भगवान बना दिया।

  पूज्य गुरुदेवश्री : बनाया नहीं, यह भगवान ही है। भगवान है, ऐसा बताया है। (473)
- परमात्मा के घर में प्रविष्ट होना और मैं तो पामर... पामर... पामर... इन दोनों बातों में मेल नहीं है। पहली चोट में मैं सिद्ध हूँ, ऐसा लक्ष्य में लेता नहीं, उसे जिज्ञासु ही नहीं कहते। (474)

- पर्याय जो दृश्य है, उसको अदृश्य करके और गुणभेद जो दृश्य है, उसको अदृश्य करके और द्रव्य को दृश्य करके पूर्व में अनन्त तीर्थंकरों ने सम्यग्दर्शन पाया है, यह एक ही मार्ग है। (475)
- रोग के काल में रोग हुए बिना रहेगा ही नहीं। इन्द्र ऊपर से उतरे तो भी हुए बिना रहेगा नहीं, ले! और राग के काल में राग भी हुए बिना रहेगा नहीं, ले! अब तुझे नजर कहाँ करनी है? स्वभाव पर नजर डालना, वही सन्तोष और शान्ति का उपाय है। (476)
- भैंस आदि ढोर, घास आदि खाकर फिर निश्चिन्तता से उगाली करते हैं। इसी प्रकार तत्त्व की बात सुनने में आवे, उसका मन्थन करके निर्णय करके, जब तक भाव भासित न हो, वहाँ तक उगाली करना चाहिए... पर्याय... का भरोसा और फिर त्रिकाल सत् का भरोसा आना चाहिए। (477)
- यह बात तो महाभाग्यशाली पुण्यवन्त, जिसे अल्प काल में अनन्त-अनन्त सुख का स्वामी होना है, उसके लिये है। (478)
- कोई पहले पूजा भक्ति करता हो और फिर ऐसा सुनकर तत्त्वविचार में रहता हो तो उसे कोई कहे कि इसे सुनने का फल क्या?—तो कहते हैं कि भाई! पूजादि से तो तत्त्वविचार में विशेष कषाय मन्दता है, इसमें भ्रष्टता नहीं। तेरी दृष्टि विपरीत है। तेरे साथ पूजादि में खड़ा हुआ दिखाई नहीं देता, इसलिए भ्रष्ट है—ऐसा नहीं है, इसमें तो शुभभाव बहुत ही ऊँचा है। मोक्षमार्ग प्रकाशक में भी यह बात की है। (479)
- **मुमुक्षु :** रुचि हो और यहाँ सम्यग्दर्शन न हो तो दूसरे भव में सम्यग्दर्शन होगा, ऐसा कुछ है?

  पूज्य गुरुदेवश्री : रुचि हो, उसे होगा ही... होगा ही... होगा ही... और होगा ही। यथार्थ रुचि और लक्ष्य हो, उसे सम्यग्दर्शन न हो, ऐसा तीन काल में होता ही नहीं। वीर्य में हीनता-हत्उत्साह नहीं आना चाहिए। वीर्य में उत्साह-निःशंकता आनी चाहिए, कार्य होगा ही, ऐसा होना चाहिए। (480)

*** ***

प्रशममूर्ति भगवती माता पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन

—: द्वितीय विभाग :—

पूज्य बहिनश्री वचनामृत

- देव–गुरु–शास्त्र की महिमा अपार है, अन्तर में शुद्धात्मा की महिमा लाकर ध्येय उसका ही रखना; निरन्तर उसका ही भेदज्ञान करने का प्रयास करना। यही करने का है। जैसे स्फटिक स्वभाव से निर्मल है परन्तु लाल–पीले फूल की छाया में वह लाल–पीला दिखता है, तथापि वस्तुतः वह कहीं मलिन (लाल–पीला) हुआ नहीं; उसी प्रकार चैतन्य पदार्थ स्वभाव से निर्मल है, परन्तु उसकी परिणति में क्लेश की कालिमा के कारण अनेक प्रकार के विभाव दिखते हैं तो भी वस्तुतः वह कहीं मलिन हुआ नहीं, अन्तर में दृष्टि करे तो शुद्ध है। इसलिए शुद्धात्मा पर दृष्टि करके, उसकी ही लगन, उसकी ही धुन और उसका ही दिन और रात—क्षण–क्षण में भेदज्ञान करना कि 'यह जो विभाव है, वह मेरा स्वभाव नहीं, मैं इनसे भिन्न–न्यारा चैतन्यमय हूँ।'—उसकी ही लगन लगातार लगे तो वह निर्विकल्प तत्त्व स्वानुभूति प्राप्त हुए बिना रहे ही नहीं। (1)

- जिनवरस्वामी मिले परन्तु स्वयं उन्हें पहिचाना नहीं, इसलिए 'जिनवरस्वामी मिले नहीं' ऐसा शास्त्र में आता है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन की प्राप्ति भी अपूर्व है, वह भी जीव ने किसी समय प्राप्त किया नहीं। जो भगवान को यथार्थ पहिचाने, वह अपने आत्मा को यथार्थ पहचानता है, ऐसा सम्बन्ध है। जो भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से पहिचाने, वह अपने को पहिचानता है और जो अपने को पहिचाने, वह भगवान को पहिचानता है। इसलिए अपने द्रव्य–गुण–पर्याय का स्वभाव क्या है, उसे पर के साथ क्या सम्बन्ध है, यह समझकर दोनों द्रव्य भिन्न–भिन्न हैं, ऐसा यथार्थ रीति से ख्याल में लेकर, पर के साथ की एकत्वबुद्धि तोड़ना चाहिए। विभावभाव भी आत्मा का स्वभाव नहीं, उनसे भी स्वयं पृथक् है; गुणों के भेद और पर्यायों के भेद, वह भी चैतन्य का अखण्ड स्वरूप नहीं है। सब प्रकार से चैतन्य को–शुद्धात्मा को न्यारा ग्रहण करना। पृथक् प्रतीति करना। ऐसा करके,

उसका ही बारम्बार अभ्यास करके, उसमें ही लीनता करना। ऐसा करने से स्वानुभूति प्रगट हुए बिना रहती ही नहीं। (2)

- आत्मा का स्वभाव तो अनादि-अनन्त सदा शुद्ध परिपूर्ण है। स्वानुभूति प्राप्त करनेवाले को उस स्वभाव का अंश प्रगट होता है, परन्तु उसे उस अंश से शान्ति-तृप्ति-सन्तोष हो नहीं जाता; उसे भावना तो सदा पूर्ण वीतरागता की रहती है। पुरुषार्थ की मन्दता के कारण स्वयं भले मात्र सम्यग्दृष्टि ही हो, गृहस्थाश्रम में हो, तो भी उसे भावना तो ऐसी ही रहती है कि कब मैं मुनिदशा प्राप्त करूँ, कब मैं पूर्ण वीतरागतारूप परिणम जाऊँ। उसे सदा निर्विकल्प स्वानुभूति, आत्मा में प्रचूर लीनता और पूर्ण वीतरागता की भावना रहती है। एक अंश से उसे सन्तोष नहीं होता—ऐसा होने पर भी उसे आंशिक शान्ति और तृप्ति तो अवश्य होती है, क्योंकि अनादि काल से जो विभाव में एकत्वबुद्धि थी, आकुलता थी, वह छूटने पर कोई अपूर्व परिणति प्रगट हुई, जिससे अपूर्व शान्ति, अपूर्व आनन्द अनुभव में आया। अन्तर में लोकोत्तरमार्ग प्रगट हुआ—आत्मा का अनुभव तथा अलौकिक परिणमन हुआ, उसका आनन्द होता है। इस प्रकार उसे अपूर्व शान्ति और आनन्द भी होता है। तथा पूर्ण आनन्दमय वीतरागदशा की भावना भी रहती है। (3)

- यहाँ (स्वर्णपुरी में) गुरुदेव विराजते थे और निरन्तर उनकी चैतन्यरस झरती अमृत वाणी बरसती थी। धन्य ऐसी यह नगरी! धन्य वह काल! गुरुदेव परम पुरुष थे, महाशक्तिशाली थे। भरतक्षेत्र में इस काल में गुरुदेव की वाणी सर्वोत्कृष्ट अतिशयता वाली थी, पंचम काल में भरत के जीवों के चैतन्य को जगानेवाली थी। गुरुदेव जगत से पृथक् ही पड़ें—उनकी मुद्रा ही अलग पड़े और वाणी भी अलग पड़े। उनकी मुद्रा देखने पर लोग 'यह तो धर्म पुरुष हैं' ऐसे छक्क हो जाते थे; अहो! यह तो चैतन्य की अतिशयता बतलानेवाली मुद्रा! वे तो चैतन्य रत्न को पहिचाननेवाले परम पुरुष थे। व्याख्यान पड़ते हों, तब अलग ही लगे। उनके चरणों से भरतक्षेत्र शोभता था। वे चैतन्यदेव का मार्ग बतलाते थे। 'चैतन्य को पहिचानो.. पहिचानो!' ऐसी गर्जना करते; 'ज्ञायकदेव भगवान आत्मा... भगवान आत्मा...' का पुकार

करते; सबको 'भगवान' कहकर बुलाते थे। स्वयं तो भगवानस्वरूप थे। अल्पकाल में भगवान हो जानेवाले हैं। गुरुदेव के चैतन्य की शोभा की तो क्या बात! उनके पुण्य की शोभा कोई अलग! ऐसे, बाह्य-अन्तर पुण्य और पवित्रता की मूर्ति थे। भरतक्षेत्र का भाग्य कि गुरुदेव यहाँ जन्मे। (4)

- किन्हीं-किन्हीं मुनिश्वरों को ऐसी लब्धि प्रगट हो जाती है कि वे अन्तर्मुहूर्त में ग्यारह अंग और चौदह पूर्व का अनुप्रेक्षण कर लेते हैं! परन्तु मुनिराज के हृदय में उसकी भी महिमा तो है ही नहीं। लौकिकदृष्टि से उन्हें कैसी अद्भुत लब्धि है! सम्पूर्ण द्वादशांग का अन्तर्मुहूर्त में मन से तो अनुप्रेक्षण करते हैं परन्तु तदुपरान्त वचन से भी स्वाध्याय कर लेते हैं। उन्हें अन्दर में सहज कोई ऐसी शक्ति उघड़ जाती है कि वे अन्तर्मुहूर्त में पूरे-पूरे द्वादशांग का पारायण कर जाते हैं। इस प्रकार द्वादशांग का ज्ञान और तद्‌विषयक लब्धि होने पर भी मुनियों को बारह अंग के ज्ञान की और लब्धि की कुछ अधिकता नहीं लगती। अन्तर में अपूर्ण ज्ञान रुचता ही नहीं। वह तो क्रमिक ज्ञान है; क्रम पड़े, ऐसे ज्ञान की महिमा ही क्या?

  सहज ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान तो एक समय में सम्पूर्ण लोकालोक को वहाँ गये बिना, विचार किये बिना, अन्दर ही लीन रहने पर भी, अन्तर में ही केलि करते-करते जान लेता है। (5)

- चौथे गुणस्थान से ही साधकों को निर्विकल्प तत्त्व में निर्विकल्परूप से सदा के लिये जम जाने की भावना होती है। उन्हें द्रव्यदृष्टि को मुख्य रखकर तत्त्व सम्बन्धी—द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग आदि के अनेक विचार अन्तर में आते तो हैं, परन्तु वे आकुलतारूप होने से अन्दर में सुहाते नहीं। और शुभभावमिश्रित क्षायोपशमिक अपूर्ण ज्ञानरूप होने से उनमें अधिकता भी लगती नहीं। सहज तत्त्व में सहजरूप से जम जाना है, बाकी सब कृत्रिम है—ऐसी भावना चौथे गुणस्थान से ही होती है परन्तु पुरुषार्थ की मन्दता होने से स्वरूप में लीनता विशेष नहीं होने के कारण, श्रुत का चिन्तवन, देव-गुरु-शास्त्र की महिमा इत्यादि शुभभाव आये बिना नहीं रहते। (6)

- अन्दर शुद्धात्मा में ही सब भरा पड़ा है। तू भी प्रमाद छोड़कर वहाँ दृष्टि कर, इसके लिये अधिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, रुचि पलटा दे, श्रुत का अधिक ज्ञान हो तो वह कहीं नुकसानकारक नहीं है। अन्दर निर्मलता का कारण बनता है। परन्तु यदि विशेष ज्ञान न हो और प्रयोजनभूत ज्ञान हो तो भी आत्मा का कार्य तो हो सकता है। इसलिए प्रयोजनभूत तत्त्व जो निज शुद्धात्मा, उसे जानने का प्रयत्न करना। अधिक शास्त्रज्ञान हो तो ठीक, परन्तु कसवाला तत्त्व तो एक शुद्धात्मा ही है, तो शुद्धात्मा को ही ग्रहण करना। (7)
- अहो! आज भगवान पधारे! ऐसे मंगल मुहूर्त में श्री सीमन्धर भगवान पधारे कि उनके पीछे क्रमशः पूरे सौराष्ट्र में जिनेन्द्रवृन्द उतर पड़े; गाँव-गाँव में भगवान पधारे। अहो! जगत में सर्वोत्कृष्ट जिनेन्द्रदेव है। अपने यहाँ भगवान पधारे, दर्शन करने का सौभाग्य मिला, उसकी क्या बात! विदेह के विहरमान भगवान—मानों साक्षात् भगवान—अपने आँगन में पधारे! श्री सीमन्धर भगवान का जब मन्दिर के द्वार में प्रवेश हुआ, तब गुरुदेव ने अतिशय भक्तिभाव से 'पधारो भगवान! पधारो'—ऐसा स्वागत करके साष्टांग नमस्कार किया था। पूज्य गुरुदेव ने आश्चर्यमुग्ध होकर भगवान के दर्शन किये, तब उनकी आँखों में से आनन्द के आँसू बहने लगे थे। अहा! जगत में सर्वोत्कृष्ट भगवान ही हैं। (8)
- जगत में तीर्थंकर भगवान सर्वोत्तम विभूति है। अपने को तो यह भविष्य के तीर्थंकर भगवान मिल गये; वर्तमान में भगवान की तरह ही उनकी वाणी के श्रवण का सौभाग्य मिला। गुरुदेव ने वर्षों तक वाणी बरसायी। इस भरतक्षेत्र में दिव्यध्वनि की तरह ही गुरुदेव की वाणी गाजती थी। उसके श्रवण जैसा दूसरा सौभाग्य कौन सा? गुरुदेव ने सबको द्रव्यदृष्टि का अर्थात् शुद्धात्मद्रव्य की ओर झुकने का उपदेश दिया। तू भी इस ओर झुक जा; निधान तेरे पास ही है, कहीं खोजने जाना पड़े, ऐसा नहीं है। (9)
- समयसार में समस्त—पूरा मार्ग आ गया। आत्मा परद्रव्य का कर्ता नहीं, एक द्रव्य की दो क्रिया नहीं। दो द्रव्य की एक क्रिया नहीं। गुरुदेव ने यह बारम्बार स्पष्ट करके

बताया है, दो द्रव्यों की स्वतन्त्रता बतायी है। दूसरे का कुछ कर सकता नहीं, इसलिए कर्ताबुद्धि छोड़ दे और जिससे—जिसका आश्रय करने से अनेक प्रकार की शुद्धपर्याय प्रगट होती है, ऐसे निज शुद्ध आत्मा को ग्रहण कर। उसे ग्रहण करने से शुरुआत से लेकर पूर्णता तक की अनेक प्रकार की नवीन शुद्धपर्याय प्रगट हो और वह करनेयोग्य है; उसमें तुझे सुख होगा-आनन्द होगा, तृप्ति होगी। उसमें ही सुख मान—आनन्द मान, बस! उसमें ही तृप्ति हो जायेगी; पश्चात् कहीं बाहर जाने का मन नहीं होगा। विकल्प टूटकर ऐसी तृप्ति आयेगी कि बाहर का तेरा सब उड़ जायेगा। इसलिए उसे—निज शुद्ध आत्मा को ग्रहण कर। देव-शास्त्र-गुरु को और ज्ञायक को हृदय में रख। अन्दर चैतन्य की धारा प्रगट कर; जीवन में वही करनेयोग्य है। (10)

- पानी स्वभाव से निर्मल होने पर भी उसे कादव के संयोग से मलिन दिखता है तो भी उसका स्वभाव तो निर्मल ही है। इसी प्रकार चैतन्य का स्वभाव निर्मल और ज्ञान तथा आनन्द से परिपूर्ण है; परन्तु जीव की दृष्टि बाहर में होने से वह मलिनता तथा दु:ख का अनुभव करता है। यदि चैतन्य की ओर दृष्टि करे, चैतन्य को पहिचाने, उसकी गहराई में जाकर उसका स्वभाव समझे तो उसमें से निर्मलता, शीतलता और आनन्द प्रगट होता है। चैतन्यद्रव्य अनन्त-अनन्त शक्तियों से भरपूर है। उसमें अनन्त गुण भरे हुए हैं। चैतन्य कोई अनुपम तत्त्व है। उस ओर दृष्टि करने से, उसमें लीनता करने से यह विकल्प टूटकर जो स्वानुभूति होती है, वह स्वानुभूति ही मुक्ति का मार्ग है। (11)

- यहाँ के (स्वर्णपुरी के) स्थान-स्थान में, वस्तु-वस्तु में, रजकण-रजकण में गुरुदेव के स्मरण हैं। जिसके ऊपर नजर पड़े, उसके आश्रय से गुरुदेव स्मरण में आते हैं। 'अभी यहाँ गुरुदेव सीमन्धरनाथ के दर्शन करने पधारेंगे, अभी यहाँ गुरुदेव व्याख्यान की पाट पर विराजेंगे और अमृतवाणी खिरेगी, अभी गुरुदेव आहार लेने पधारेंगे, अभी यहाँ गुरुदेव एकान्त में बैठकर निज स्वाध्याय—मनन में लीन होंगे, ऐसे सर्वत्र गुरुदेव के भणकार बजते हैं। गुरुदेव विस्मृत नहीं होते। वह पावन मूर्ति नजरों में

तैरती रहती है। गुरुदेव के इन स्मरणों द्वारा गुरुदेव के पवित्र जीवन और उपदेश को दृष्टि के समक्ष रखकर, हम उनके द्वारा दर्शित मार्ग में चलें, उनकी अनुपस्थिति में भी पुरुषार्थ बढ़ाते जायें, यही कर्तव्य है। (12)

● प्रथम भेदज्ञान के अभ्यासरूप दशा प्रगट होने पर स्वानुभूति होती है। विकल्प का आश्रय नहीं परन्तु चैतन्य का आश्रय लेना चाहिए। चैतन्य का आधार—अवलम्बन लेने से विकल्प छूट जाते हैं। निरालम्बन होने से विकल्प छूट जाते हैं। चैतन्य का आधार लेने से विकल्प टूटकर अन्दर से स्वानुभूति होती है। चैतन्य के अवलम्बनरूप, मात्र चैतन्य में लीनतारूप, चैतन्य की ओर झुकती—परिणति करने से वह प्रगट होता है। मात्र विचार करते रहने से नहीं परन्तु विचार करके उसका पुरुषार्थ करके अन्दर में यदि परिणति प्रगट करे तो उसमें से कोई अपूर्वदशा की प्राप्ति होती है। यह करनेयोग्य है और यही मुक्ति का मार्ग है। गुरुदेव ने यही मार्ग बतलाया है। (13)

● चैतन्य का स्वभाव ऐसा है कि परिणति एक बार स्वभाव की ओर गयी तो फिर वह स्वभावसन्मुख ढला ही करती है। मुनिराज को तो परिणति की ऐसी दौड़ हो जाती है कि क्षण-क्षण में वह अन्दर में ही दौड़ जाती है। उन्हें परिणति बाहर कहीं टिकती नहीं, एक क्षण भर टिककर अन्दर में मिल जाती है। स्वभाव ही ऐसा है कि परिणति यदि स्वसन्मुख झुकी तो स्व-सन्मुख ही झुका करती है। इसलिए ऐसी स्वानुभूति प्रगट करना, चैतन्य ज्ञायक की पहिचान करना, ज्ञायक को स्वभाव में से पहिचानना। जिसका जो स्वभाव होता है, उसमें से ही पर्याय प्रगट होती है, दूसरे में से आती नहीं। (14)

● चैतन्य की कोई अद्‌भुतता और अनुपमता बतलानेवाले एक गुरुदेव ही थे। गुरुदेव स्वर्णपुरी में विराजते हैं। इस भरतक्षेत्र में गुरुदेव 'भगवान! भगवान!' करते थे; उन्हें तो भगवान मिल गये। गुरुदेव ने जो बताया, उसका प्रयत्न करना चाहिए। करने का तो स्वयं को है, गुरुदेव ने जो कहा है, वही करने का है। हम तो उनके समक्ष सीखे हैं। एक गुरुदेव ने ही सब सिखलाया है। अन्तर में आत्मा 'है' वह कैसे प्राप्त हो, केवलज्ञान कैसे हो?—सब मार्ग उन्होंने स्पष्ट किया; अपूर्व मार्ग उन्होंने प्रगट

किया। गुरुदेव की वाणी ही ऐसी थी कि पुरुषार्थ उठे और आत्मा की प्राप्ति हो। गुरुदेव की अपार कृपा थी; उन्होंने भव का अभाव कराया। (15)

- पुरुषार्थ करने की कळा अन्दर में सूझ जाये तो मार्ग मिलता ही है। कळ अर्थात् अपना जो स्वभाव है, उसे पहिचानकर अन्तर में स्वयं अपने को ग्रहण करना। स्वयं ही अपने को पकड़ सकता है, दूसरा कौन पकड़ावे? अनेक प्रकार की विभावपर्यायों के बीच में रहनेवाला आत्मा शाश्वत् है, उसे सूक्ष्म होकर देख! शास्त्र में आता है न कि —प्रज्ञाछैनी द्वारा स्वयं अपने को पर से और रागादि विभाव से भिन्न करे। स्वयं सूक्ष्म दृष्टि करे, स्वयं अपने को देखे, धीर होकर स्वयं अपनी परिणति को अपनी ओर दौड़ावे। ऐसा कोई ज्ञान और विरक्ति प्रगट हो की जिससे स्वयं अपने को ग्रहण करे, इस जाति की दृष्टि, इस प्रकार का ज्ञान और इस प्रकार की विरक्ति प्रगट करे कि जिससे परिणति का वेग अपनी ओर ढलकर स्वयं अपने को ग्रहण करे। युक्ति स्वयं ही अपने को अन्दर से सूझ सके ऐसा है, गुरुदेव ने जो मार्ग बताया है, उस मार्ग में चलने से अन्दर ज्ञान और आनन्द इत्यादि सब प्रगट होता है। (16)

- जिसे आत्मा की जिज्ञासा जगे, पिपासा लगे, बाहर का सब दुःखमय लगे, उसे यदि वह अन्तर में खोज करे तो आत्मा की महिमा आती है। जिसे संसार में तन्यमता है, उसे आत्मा की महिमा नहीं आती। जिसे बाहर में दुःख लगे और विचार करे कि— यह तो सब दुःख है। मैं तो अन्दर ऐसा कोई प्रगट अनुपम तत्त्व हूँ कि जिसमें परिपूर्ण सुख है। जिसे जिज्ञासा जगे, वह अपने आत्मा का गुण वैभव देखने का प्रयत्न करे और तो उसे उसकी महिमा आवे। 'आत्मा का वैभव कैसा है? कौन बताते हैं? किसे प्रगट होता है?'—ऐसी जिसे जिज्ञासा हो, वह खोज करता है।! (17)

- आत्मा शक्ति से भरपूर भगवान है। जो शक्ति से पूर्ण हो, उसमें से ही पर्याय में पूर्णता प्रगट होती है। यदि स्वभाव पूर्ण न हो तो पर्याय में पूर्णता आवे कहाँ से है? द्रव्य का मूल शाश्वत् स्वरूप ऐसा है कि जिसे कोई हीनाधिक नहीं कर सकता। कोई परद्रव्य उसे हानि, घिसावट या विघ्न नहीं कर सकता; उसके स्वभाव को कोई

खण्डित नहीं कर सकता। इसका नाम ही स्वत:सिद्ध द्रव्यस्वभाव कहलाता है। वह स्वत:सिद्ध पूर्ण द्रव्यस्वभाव भले दिखाई नहीं देता परन्तु उसमें पूर्णता है, तभी पर्याय में पूर्ण प्रगट होता है। जिसमें है, उसमें से ही प्रगट होता है। पूर्ण केवलज्ञान प्रगट हो, वह पूर्ण स्वभाव में से ही होता है। पूर्ण हो, तभी उसमें से पूर्णता आती है; इसलिए स्वभाव पहिचानकर प्रतीति करना कि 'मैं पूर्ण ही हूँ।' अपनी पूर्ण शक्ति का ख्याल बराबर आ सकता है। अपूर्णता हो, उसमें से पूर्णता नहीं आती; पूर्णता में से ही पूर्णता आती है। मूल तत्त्व परिपूर्ण है। केवलज्ञान पर्याय भले व्यक्तिरूप से पूर्ण प्रगट होती है, परन्तु शक्तिरूप से—स्वभाव से तो अन्दर द्रव्य ही परिपूर्ण विराजमान है। तेरी दृष्टि पूर्ण स्वभाव पर कर तो उसमें—पर्याय में पूर्णता प्रगट होगी। (18)

- गुरुदेव ने चैतन्य का डंका बजाकर पूरे भारत को हिला दिया है, मुमुक्षुओं के कलेजे हिलाकर उन्हें अन्तर्दृष्टि करने के लिये प्रेरित किया है। गुरुदेव कहते थे—'अनन्त शक्ति से भरपूर जो यह आत्मा, उसे जो ग्रहण करे, उसे शुद्धि और शुद्धि की वृद्धि प्रगट हुए बिना रहती ही नहीं।' एक शुद्धात्मा को ग्रहण कर। गुरुदेव जैसे 'गुरु' मिले और भगवान ज्ञायकदेव आँगन में पधारे, पश्चात् तो शुद्धपर्याय प्रगट करने का हो न? दूसरा तो जीव को अनन्त काल में क्या नहीं मिला? सब मिल चुका है, सब श्रुत, परिचित और अनुभूत है। एक चैतन्य के एकत्व की बात सुलभ नहीं है। दूसरा सब सुलभ है। जन्म-मरण करते-करते विभाव सुलभ हो पड़ा है और 'एकत्व' स्वभाव है अपना, तथापि वह दुर्लभ हो पड़ा है। गुरुदेव के प्रताप से स्वभाव की वार्ता और स्वभाव की अनुभूति सुलभ हुई है। स्वभाव की अनुभूति करना, वह अपने हाथ की-पुरुषार्थ की बात है। (19)

- स्वानुभूति, वही मोक्षमार्ग है। ज्ञायक की अनुभूति की दूज उगे तो अवश्य पूर्णिमा होती ही है। गुरुदेव के प्रताप से चारों ओर 'अनुभूति करो, अनुभूति करो' ऐसा हो गया है। पहले तो सब क्रियाकाण्ड में पड़े थे; अभी ऐसे विषम काल में ऐसे गुरु मिले और उन्होंने बाह्य क्रिया नहीं, परन्तु अन्तर अनुभूति की क्रिया का रहस्य

बताया। जीव अनन्त काल में सब कर चुका है—त्याग किया, अथाग वैराग्य लिया, परन्तु मुक्ति का मार्ग नहीं मिला, वह अन्तर का मार्ग प्राप्त करने के लिये अन्तर में ज्ञायक की समीपता कर। ज्ञाताधारा की उग्रता कर, द्रव्यदृष्टि प्रगट कर। एक बार विभाव को पीठ दी, वह दी। विभाव को श्रद्धा में पूरी-पूरी तिलांजलि देकर द्रव्य का पूरा-पूरा जोर ला। थोड़ी भी कचास होगी तो अन्दर निर्विकल्पता प्रगट नहीं होगी। विभाव अन्दर जरा भी पोसाये, ऐसा नहीं है। विभाव के साथ अंश भी एकत्व तुझे अन्दर में जाने से रोकेगा, तेरे नैन के आलस से तू रुका है। हरि अर्थात् परमात्मा अपने पास ही है। स्वयं ही है। ज्ञान और आनन्द से भरपूर चैतन्यदेव अखूट भण्डार है। रत्नों से भरपूर पर्वत है, अनुपम है; तुझे जो चाहिए हो, वह सब उसमें से ही प्राप्त होगा। ज्ञान भी उसमें से और आनन्द भी उसमें से ही प्रगट होगा। यह ज्ञानादि बाहर आयेंगे तो तुझे स्वयं को आश्चर्य होगा—अहो, ऐसा ज्ञान! ऐसा आनन्द! (20)

● आत्मा कामधेनु है, कल्पवृक्ष है। उसमें से जब जो चाहिए, वह मिला रहेगा। तू जो चाहेगा, वह अन्दर में से मिलेगा। स्वभाव में से मनोवांछित फल मिलेगा। एक उपयोग को अन्दर रखने से कितना ही फलित हो निकलेगा। एक चैतन्य पर दृष्टि रख तो उसका फल ऐसा उदित हो जायेगा कि अन्दर से सहज ज्ञान आयेगा, आनन्द आयेगा, उसमें रटना या धारना नहीं पड़ेगा, किसी भी प्रकार की आकुलता बिना निराकुलरूप से आया ही करेगा। उसका एक अंश भी अनन्त लेकर आयेगा। पूर्णता हो, उसकी क्या बात! तुझे आश्चर्य होगा कि एक अंश में इतना, तो पूर्णता में कितना!!

वह अंश सहज अनन्त लेकर ही आयेगा। स्वभाव में है, वह कहाँ जाये? उसे कौन ले जाये? उसे विघ्न करनेवाला कौन है? उसे रोकनेवाला कौन है? कोई रोकनेवाला नहीं; रुकता है तो अपने पुरुषार्थ की निर्बलता से ही। एक अंश अनन्त लेकर ही आवे। सर्वगुणांश, वह समकित। एक अंश के वेदन में अनन्त शक्ति का वेदन है। (21)

● जैसे समुद्र अन्दर से उछले तो उस पानी को कौन रोक सकता है? बाहर का पानी

इकट्ठा करने से समुद्र नहीं भरता; अन्दर से समुद्र जो उछलता है, वह उछाला अलग ही होता है; इसी प्रकार धारणा ज्ञान से पार नहीं आता, बाहर का क्षयोपशम चाहे जितना इकट्ठा करे, परन्तु वह काम नहीं आता, इसलिए तू अन्दर में भेदज्ञान का सम्यक् प्रयास कर। एक द्रव्यदृष्टि की डोर मुख्य रखना। एक द्रव्य को ग्रहण करने के पश्चात् द्रव्य तेरे साथ ही रहनेवाला है, तू स्वयं ही द्रव्य है। (22)

- द्रव्यदृष्टि करके सम्यक् पर्याय प्रगट हुई तो पूर्ण शुद्धता प्रगट होगी ही। शुद्धता का सागर अन्दर से एकदम उछलेगा। प्रत्येक गुण सागर की भाँति उछलेगा। एक अंश अनन्त लेकर आता है, फिर आगे बढ़ते हुए मुनिदशा और ऐसे करते-करते केवलज्ञान;... वहाँ तो अनन्त-अनन्त गुण शुद्धता से भरपूर उछलेंगे। मुनिदशा में तो अनन्त प्रगट होगा, परन्तु केवलज्ञान होने पर तो उससे अनन्त-अनन्तगुना उछलेगा, क्योंकि वह वीतरागदशा है। वीतरागदशा होने के पश्चात् शुद्धता पूरी-पूरी उछलेगी। इसलिए निरन्तर शुद्धता से भरपूर मैं ज्ञायक हूँ, शुभाशुभभावरूप मैं नहीं हूँ, ज्ञान और आनन्दादि अनन्त गुणों से भरपूर मैं भगवान हूँ—ऐसे विकल्पों को नहीं, परन्तु जाननेवाले के मूल अस्तित्व को ग्रहण कर। द्रव्य को ग्रहण कर, उसमें सब आ जायेगा। (23)

- गुरुदेव का द्रव्य ही अलौकिक था। उनकी वाणी भी अलौकिक थी कि अन्दर आत्मा की रुचि जगाये। उनकी वाणी की गहराई और रणकार कुछ अलग ही थे। वाणी सुनते हुए अपूर्वता लगे और 'जड़-चैतन्य भिन्न है', ऐसा भास हो जाये, ऐसी वाणी थी। 'अरे जीवो! तुम देह में विराजमान भगवान आत्मा हो कि जो अनन्त गुणों का महासागर है, मन-वचन-काया से भिन्न है और विभाव से भी उस पार है। उस प्रत्यक्ष अनुभवगोचर भगवान को तुम अनुभव करो; तुमको परमानन्द होगा।'—ऐसी गुरुदेव की अनुभवयुक्त जोरदार वाणी श्रोताओं को आश्चर्यचकित करती है। बहुत प्रबल वाणी! संसार का जहर उतार डाले; विषय-कषाय को पतला कर डाले; पाप का रस तो नितर ही जाये, परन्तु पुण्य का रस भी न रहे; शुद्ध परिणति की और शुद्ध ज्ञायक आत्मा की लगन लगावे, ऐसी मंगलमय वाणी गुरुदेव की थी। (24)

- अनन्त गुणों की पूर्ण शुद्धतारूप आत्मपर्याय में जो अनन्त ज्ञान है, वह सबको पहुँच जानेवाला है। अनन्त द्रव्यों के उत्पाद व्यय और ध्रौव्य, भूत-वर्तमान-भावी की पर्यायों के अनन्त अविभागप्रतिच्छेदरूप अंशों इत्यादि सब जिसमें दिखता है, ऐसा दिव्यज्ञान—सबको पहुँच जानेवाला ज्ञान—उछलेगा। वहाँ अनन्त आनन्द का सागर, बल का सागर, शान्ति-समाधि का सागर, प्रभुता-विभुता आदि अनन्त शक्तियाँ कि जिनका कोई पार नहीं, वे शक्तियाँ उछलेंगी। शक्तिरूप से तो पूरा-पूरा पड़ा हुआ है ही; मति-श्रुत का व्यापार जहाँ स्वरूप-सन्मुख होगा और समस्त विकल्प टूटेंगे, वहाँ केवलज्ञानरूप से पूर्ण उछल जायेगा। (25)

- समयसार में आता है:—ज्ञान मन को आनन्दरूप करता हुआ प्रगट होता है। उसे रमने का स्थान—क्रीड़ावन तो आत्मा ही है। अनन्त ज्ञेय झलकें तो भी ज्ञान तो अपने स्वरूप में ही रहता है। आत्मा अनन्त काल से ज्ञेयों के प्रति एकत्वबुद्धि करता था, जो-जो ज्ञेय ज्ञात हों, उनके साथ तन्मय होकर अनन्त कर्मों को बाँधता था, भ्रम के कारण कोई ज्ञेय अच्छा और कोई ज्ञेय बुरा, ऐसा इष्टानिष्ट बुद्धि करके आकुलता और खेद करता था। अब जब उसे ज्ञानमय परिणमन हुआ, तब अनिच्छुक भावरूप परिणमने लगा। यह परज्ञेय मेरा स्वरूप नहीं, मुझे यह कुछ चाहिए ही नहीं—इस प्रकार ज्ञेय—परपदार्थ के प्रति राग-द्वेष करता नहीं। मेरे आत्मा में अनन्त ऋद्धि-सिद्धियाँ भरी पड़ी हैं और मन को आनन्दरूप करता हुआ अद्‌भुत ज्ञानप्रकाश मुझे अन्तर में प्रगट हुआ है, इसलिए मेरी सब इच्छाएँ टूट गयी हैं, मुझे कुछ चाहिए नहीं, मैं तो ज्ञायक ही हूँ, ऐसा निस्पृहरूप से परिणमता है। (26)

- अभी चौथे गुणस्थान में हो, तथापि ज्ञानी को ऐसे निस्पृह परिणाम वर्तते हैं कि दृष्टि-अपेक्षा से मैं मन से, वचन से और काया से राग का कर्ता, कारियता या अनुमन्ता नहीं, ऐसे नव-नव कोटि से मैंने विभाव को तिलांजलि दी है। मेरी दृष्टि परपदार्थ से विराम पा गयी है; भले अभी अस्थिरता खड़ी है, नव-नव कोटि से त्याग तो चारित्र प्रगटे, तब होता है, परन्तु यह तो दृष्टि-अपेक्षा से अन्तर के जोर की बात है। ज्ञानी की दृष्टि परद्रव्य से उठ गयी है, ज्ञेयों का ज्ञान, वह तो आत्मा का सहज स्वभाव है,

परन्तु ज्ञेयों को तन्मयरूप से ग्रहण करने की बुद्धि हट गयी है। आत्मा को रमने का नन्दनवन तो निज आत्मा ही है, वह उसे रमने के लिये मिल गया है। (27)

- ज्ञायक का सहजस्वरूप ही ऐसा है कि जैसे-जैसे पर की ओर का झुकाव छोड़कर अन्तर में विज्ञानघन होता जाता है, वैसे-वैसे ज्ञान निर्मल होता जाता है और किसी को अन्दर ज्ञान की ऋद्धियाँ प्रगट होने पर बाह्य ज्ञान भी बढ़ता जाता है, परन्तु ज्ञानी कहते हैं—ज्ञेय ज्ञात हों तो भले ज्ञात हों, परन्तु अब मैं उनके साथ एकत्वबुद्धि करनेवाला नहीं हूँ; मैं तो मेरे आत्मा में ही रहनेवाला हूँ, मेरा निवासस्थान जो मेरा आत्मा, उसे छोड़कर अब मैं कहीं बाहर जानेवाला नहीं हूँ। किसी-किसी साधक को आगे बढ़ते-बढ़ते अनेक प्रकार की मति-श्रुत की लब्धियाँ प्रगट होती हैं, अवधि और मन:पर्ययज्ञान प्रगट होता है, केवलज्ञान में तो लोकालोक झलके, तथापि आत्मा तो आत्मा में ही रहता है। (28)

- अपने स्वरूपधाम में रहनेवाले ऐसे मुझे जगत के किन्हीं भावों की इच्छा नहीं है। एक चैतन्यस्वभाव को ग्रहण करने से मेरी सभी इच्छाएँ टूट गयी हैं। बाहर में पुण्य के—वैभव के ढ़ेर दिखाई दें, परन्तु मुझे उनकी इच्छा नहीं है; विविध प्रकार के बाहर के ज्ञेय हैं, परन्तु मुझे उनका आश्चर्य नहीं है। अनन्त काल से पुण्य के ठाठ का आश्चर्य लगता था, वह भ्रान्ति के कारण मेरी भूल थी, उस भूल के कारण परिभ्रमण हुआ और वहाँ आकुलता और खेद वेदन किया; अब तो इस पुण्य के विलास को छोड़कर मैं मेरे चैतन्य निवास में बसता हूँ। (29)

- अनेक प्रकार के पुण्य के ठाठ, पाप के स्थान, समाधिसुख को प्राप्त केवलज्ञानी, कृतकृत्य सिद्ध भगवन्त आदि सब ज्ञान में ज्ञात हो, परन्तु मुझे किसी का आश्चर्य नहीं; जो-जो भाव जानने में आवें, उनका मैं ज्ञाता ही हूँ। ज्ञायकस्वभाव को ऊर्ध्व रखकर ज्ञेयों को जानता हूँ, ज्ञायक के अस्तित्व को ग्रहण करके, ज्ञायक के ज्ञायकरूप परिणमन को हाजिर रखकर मात्र जानता हूँ। 'यह ज्ञायकरूप से रहा हुआ, वही मैं हूँ'—ऐसे मुझे—साधक को, विभाव होने पर भी, विभाव का भेदज्ञान वर्तता है। साधकदशा होने से, इस विभावभाव का मुझमें उद्भव होने पर भी, वह मेरा स्वभाव

नहीं है। ज्ञायकमय परिणमन होने से अमुक अंश शान्ति का वेदन होता है, उसका भी ज्ञाता हूँ और अमुक अंश में आकुलता है, उसका भी ज्ञाता हूँ। (30)

- ज्ञानी को चाहे जिस प्रसंग में ज्ञायकता छूटती नहीं; पुण्य-पाप के भाव में वह ज्ञायक ही है। चाहे जैसे उत्कृष्ट शुभभाव हों, पंच परमेष्ठी की पूजा-भक्ति के भावों में बहुत रस दिखता हो या गुणभेद के विचार करता हो, तथापि ज्ञायक तो ज्ञायक ही है, कहीं एकत्वबुद्धि नहीं है। (31)

- ज्ञानी को निर्विकल्पदशा में तो कोई अलग ही अद्भुत आनन्द होता है, परन्तु सविकल्पदशा में आने पर भी ज्ञायकता की शान्ति का वेदन कोई अलग ही होता है। जिस समय विभाव होता है, उसी समय—उसी क्षण ज्ञायकपने को प्रसिद्ध करता हुआ वह ज्ञानपरिणति से परिणमता है। उपयोग बाहर आने पर निर्विकल्पता नहीं परन्तु शान्ति का वेदन तो होता ही है। साक्षी हुआ और शान्ति का वेदन न हो, ऐसा नहीं होता और शान्ति का वेदन होने पर भी साक्षी नहीं हुआ हो, ऐसा भी नहीं होता। एकत्वबुद्धि टूटने पर ज्ञानी को कोई अलग ही शान्ति का वेदन होता है। यदि शान्तिरूप वेदन न हो तो विभाव के साथ एकत्वबुद्धि पड़ी ही है। पृथक् हुए को पृथक्पने की—साक्षीपने की शान्ति का अमुक अंश में वेदन आता है तो ही ज्ञायकता परिणमित हुई है। बहुत से लोग कहते हैं कि हम शान्ति रखते हैं, परन्तु वह सच्ची शान्ति नहीं है। ज्ञायक, ज्ञायकरूप से परिणमकर जो शान्ति प्रगट हो, वह कोई अलग प्रकार की होती है। ज्ञायक, ज्ञायकरूप से रहकर, विभाव से पृथक् पड़कर जो स्वाभाविक अनाकुलता प्रगट होती है, उसका नाम शान्ति है। ज्ञातारूप से परिणमने से जो भेदज्ञान की धारा चले, उसके साथ परिणमित शीतलता-शान्ति, वही सच्ची शान्ति है। धन्य वह ज्ञानी की अनिच्छुक शान्तदशा! (32)

- ऐसे विषम काल में ऐसे महापुरुष का योग मिलना अति-अति दुर्लभ है। उनके दर्शन और वाणी कितने दुर्लभ हैं, वह अभी सब भक्तों को वेदनपूर्वक स्पष्ट समझ में आता है। पुण्य का थोक उछले बिना ऐसे महापुरुष का योग इस काल में कहाँ से हो? भारत का महाभाग्य था कि गुरुदेव का यहाँ जन्म हुआ, इतने वर्षों तक

सबको अपूर्व लाभ मिला। उनके चरण पड़ें, वहाँ मंगल... मंगल... हो जाता है! पूरी नगरी बदल जाये! मुम्बई नगरी में पन्द्रह-पन्द्रह, बीस-बीस हजार लोगों के बीच व्याख्यान दें। सब एकटक टकटकी लगाकर देखते रहें, और अद्‌भुत शान्ति बनाकर प्रेमपूर्वक गुरुदेव की ज्ञानवैराग्यपूर्ण अमृतवाणी झेले। सब भले अपनी शक्ति प्रमाण समझे अधिक-हीन, परन्तु सामान्य रीति से सब ऐसी छाप लेकर जाते हैं कि वास्तव में यह कोई धर्मपुरुष है।

गुरुदेव ने भारत को बहुत दिया है। पैंतालीस-पैंतालीस वर्ष तक श्रुत का प्रपात बरसाया है। भारत पर उनका अपार उपकार है। (33)

- तू निरालम्बन चाल से चलना सीख। इसके लिये जिनेन्द्र कथित वस्तुस्वरूप की तू समझण कर। उस समझण में व्यवहार से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु निमित्त होते हैं। देव-शास्त्र-गुरु मार्ग बतलाने में महानिमित्त हैं। तू तेरा उपादान अन्दर से तैयार कर, वहाँ निमित्त तो तैयार होता ही है। तेरा उपादान तैयार करना, वह तेरे हाथ की बात है, उसमें तुझे कोई रोकनेवाला नहीं है। शास्त्र में आता है न—विभाव में जुड़ने में भी तू स्वतन्त्र है और स्वभाव के कार्य करने में भी तू स्वतन्त्र है। पर्यायदृष्टि तू स्वतन्त्ररूप से करता है और द्रव्यदृष्टि करने में भी तू स्वतन्त्र है। पण्डित बनारसीदासजी के उपादान-निमित्त के दोहों में आता है—'एक चक्र सों रथ चले, रवि को यही स्वभाव।' तू अकारण पारिणामिकद्रव्य है। तेरा उपादान तैयार कर। तू स्वयं स्वतन्त्ररूप से परिणमिता पदार्थ है। (34)
- जिन्हें स्वभाव का अंश प्रगट हुआ है, ऐसे सम्यक्त्वपरिणत जीव भी, अपने को प्रगट हुई ज्ञानधारा के साथ ज्ञायक में लीनता की तारतम्यता प्रमाण, बारम्बार चैतन्य में चले जाते हैं। जैसे मुनिराज अन्तर में कहाँ विचरते होते हैं, यह जानना मुश्किल है, इसी प्रकार जिसे द्रव्यदृष्टि प्रगट हुई है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव का भी अन्तःपरिणमन जानना मुश्किल है। उनकी अन्तःपरिणति अन्तर में कहाँ विचर रही होती है, वह तो जो जानता हो, वही जानता है! (35)
- यह जो बाह्य लोक है, विभाव का लोक है, उसमें तो सब धमाल... धमाल... और

धमाल ही देखने को मिलती है, कहीं शान्ति नहीं। अन्तर का लोक—चैतन्यलोक अद्‌भुत है, उसमें सब सरस देखने का है, वहाँ सर्वत्र शान्ति है।

बाह्यदृष्टि और बाहर में जाती हुई वृत्ति, वह विभाव का लोक है। समस्त विभावरहित, अनन्त गुणों से गुंथित जो अभेद द्रव्य, उस द्रव्यरूप चैतन्यलोक है; और उसमें दृष्टि जाने से जो निर्मलपरिणति प्रगट होती है, वह पर्यायरूप चैतन्यलोक है। पंच परमेष्ठी भगवन्तों का वास चैतन्यलोक में है। अरिहन्त और सिद्ध परमेष्ठी का चैतन्यलोक में पूर्ण निवास है तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी का चैतन्यलोक में बहुत-बहुत निवास होने पर भी, वह निवास अपूर्ण है, जिसे पूर्ण करने के लिये वे उग्र साधना कर रहे हैं। सम्यग्दृष्टि का भी चैतन्यलोक में अपूर्ण निवास है, जिसे पूर्ण करने के लिये वे साधना कर रहे हैं। सर्व साधकों को चैतन्यलोक एक ही प्रकार का है। तू भी चैतन्यलोक में बसने का पुरुषार्थ कर। वहाँ बसने से तू पंच परमेष्ठी में सम्मिलित हो जायेगा। (36)

- जहाँ अरिहन्त भगवान समवसरण में विराजते हों और जहाँ आचार्य आदि परमेष्ठी विराजते हों, वहाँ उनके साथ रहने का योग—जो कि महाभाग्य से प्राप्त होता है—उस निवास की यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो अन्तर के निवास की बात है। तू अन्तर का ऐसा निवास करे कि जो पंच परमेष्ठी के निवास की जाति का हो। अन्दर के जिस क्षेत्र में पंच परमेष्ठी भगवन्त बस रहे हैं, उस क्षेत्र में तेरा निवास कर।

बाहर में देव-शास्त्र-गुरु की समीपता में बसने की प्रशस्त भावना ज्ञानी को भी होती है, परन्तु वह बाहर का लोक है। वह प्रशस्त भाव आते होने पर भी, ज्ञानी को चैतन्यलोक में बसने का प्रयत्न चालू होता है। शुद्धात्म-परिणतिरूप—शुद्धात्मानुभूतिरूप लोक, वही वास्तविक अन्तर का चैतन्यलोक है। उसमें तू निवास कर। पंच परमेष्ठी भगवन्तों का निवास है, वहाँ तू बस जा। तुझे शाश्वत् परिपूर्ण सुख प्राप्त होगा। सर्व दुःखों का अत्यन्त नाश करने के लिये चैतन्यलोक में निवास की विधि बतलानेवाले गुरुदेव सदा जयवन्त वर्तो! (37)

- कुदरत में कैसा सुमेल है! जगत में ज्ञायकदेव अकृत्रिम स्वयंसिद्ध शाश्वत् है।

ज्ञायकदेव को प्रगट करनेवाले, साक्षात् चैतन्यरत्नाकर ऐसे तीर्थंकर—भगवन्त प्रवाहरूप से नित्य विराजमान हैं, जगत में उनका कभी विरह नहीं होता। चैतन्यरत्नाकर तीर्थंकर भगवन्तों के प्रतीकरूप अकृत्रिम स्वयंसिद्ध रत्ननिर्मित जिनबिम्ब भी लोक में शाश्वत्‌रूप से विराजमान हैं। जगत में ऊपर, नीचे और मध्यलोक में—वैमानिकस्वर्ग, भवनवासी के भवन, ज्योतिष्क और व्यन्तर के स्थानों में असंख्यात रत्नमय जिनमन्दिर और जिनप्रतिमायें हैं। मन्दिर भी रत्नों के और भगवान भी रत्नों के! प्रतिमायें कितनी तो पाँच सौ धनुष्य प्रमाण और मन्दिर तो इससे भी बहुत ऊँचे! अकृत्रिम, अति मनोज्ञ, हू-ब-हू जिनेन्द्र भगवान सदृश्य प्रतिमायें! मानो अभी दिव्यध्वनि खिरी या खिरेगी! (38)

- अन्तर में देखने का प्रयत्न करे तो अन्दर से सब प्रगट हो। जिसे जिज्ञासा हो, वह अन्तर में गये बिना रहता ही नहीं। यह शरीरादि बाह्य वस्तु है, विभावपर्याय भी अपना स्वभाव नहीं। अन्तर में एक चैतन्य द्रव्य शाश्वत् है, जिसमें शाश्वत् सुख है। जिसमें सुख हो, उसमें से ही वह प्रगट होता है। सुख इत्यादि अन्दर तत्त्व में से ही आते हैं, बाहर से कुछ नहीं आता। आनन्दगुण आत्मा का है, इससे आत्मा पर दृष्टि करने से वह प्रगट होता है। जो जिसमें हो, वह उसमें से ही आता है, बाहर से कुछ नहीं आता। जिसका जो स्वभाव हो, वह उसमें ही परिणमन करने से, उसमें जाने से प्रगट होता है; इसलिए अन्तर में जाकर शुद्धता को पहिचानने का और उसे प्रगट करने का प्रयत्न करना। उसकी दृष्टि, ज्ञान और उस ओर लीनता करने से वह प्रगट होता है। (39)

- यह शरीर आत्मा का नहीं, यह जड़ है—परद्रव्य है, चैतन्य का स्वरूप नहीं; तथापि (अज्ञानी) पर्याय में उसे अपना मान रहा है, विभाव को अपना मान रहा है। शुभभाव मेरा—पूजा करूँ, भक्ति करूँ, स्वाध्याय करूँ, मनन करूँ, ऐसा उसमें एकाकाररूप से अपने मानकर रहा है, परन्तु वह तो शुभराग है; उससे तो पुण्यबन्ध होता है। तेरा भगवान आत्मा तो उससे भी न्यारा का न्यारा ही है। न्यारे आत्मा को पहिचान! निर्विकल्पतत्त्व को पहिचान! यह करनेयोग्य है, इससे भव का अभाव होगा। (40)

- चैतन्यद्रव्य मिथ्यात्व के कारण विपरीत परिणमा है परन्तु स्वभाव से दर्शन-ज्ञान-संयम की मूर्ति है; वह अपना आचरण छोड़कर वस्तुतः पर में गया नहीं, संयममय उसका स्वभाव है। पर्याय में विपरीत हो गया है तो भी वह है तो ज्ञानमूर्ति, दर्शनमूर्ति, संयममूर्ति। जहाँ विकल्पों की आकुलता नहीं, ऐसा निराकुल आनन्दमूर्ति चैतन्य—ज्ञान की मुद्रा, संयम की मुद्रा, आनन्द की मुद्रा, ऐसी आश्चर्यकारी अनुपम मुद्रावाला चैतन्य—अनन्त काल से बाहर में अटक गया है। गुरुदेव कहते थे—भाई! तू विमुख हो, विमुख हो, तेरे घर में जा, तेरे घर में जा। तेरे घर में ही समस्त ऋद्धि-सिद्धि भरी हुई है। बाहर में कहाँ खोजता है? जहाँ अनन्त गुणों से भरपूर चैतन्य प्रभु का दरबार है, वहाँ—तेरे घर में जा न! उस गुणमूर्ति चैतन्य प्रभु को जो पहिचाने, वह धन्य है। (41)

- चैतन्यद्रव्य पर दृष्टि करे तो सभी पर्यायें (यथासम्भव) शुद्ध परिणमती है, पूरी दिशा बदल जाती है, विभाव की दिशा परसन्मुख है। द्रव्यस्वभाव—सन्मुख दृष्टि जाने से पर्याय में पूरी दिशा बदल जाती है—शुद्धतारूप परिणमन होता है। जैसे पश्चिम में से पूर्व की ओर मुख घुमावे, उसी प्रकार द्रव्य की ओर मुख करने से पर्याय को पीठ दी गयी, दृष्टि गयी भगवान की ओर, नयन भगवान को निरखने लगे, हाथ उस ओर जुड़ने लगे, साधक के कदम उस ओर बढ़ने लगे। ऐसे मंगलमय भगवान के दर्शन से पर्याय में मंगल प्रभा प्रसरित हुई। अन्तर में ऐसे ज्ञायकदेव को बतलानेवाले गुरुदेव स्वयं मंगलमय थे। उनकी मंगल प्रभा से भरतक्षेत्र शोभायमान था। अभी भी उनकी मंगल प्रभा छायी हुई है। (42)

- ज्ञायक पूरा अद्‌भुत महिमा से भरपूर है। उसमें अद्‌भुतता भरी हुई है। दूसरी सब अद्‌भुतता छोड़कर एक ज्ञायक की अद्‌भुतता ग्रहण कर। वही जीवन की सफलता है और वही करने योग्य है। बाकी सब उसके समक्ष तुच्छ है। विशेषता चैतन्यद्रव्य की ही है। साधक को देव-शास्त्र-गुरु सम्बन्धी शुभभाव और चैतन्य आत्मा सम्बन्धी 'मैं शुद्ध हूँ, अशुद्ध हूँ, ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ, चारित्र हूँ'—यह सब विकल्प बीच में आवे, तथापि निर्विकल्पदशा आवे, तब विकल्प भी छूट जाते हैं, इतनी निर्विकल्पदशा

प्रगट होती है। उस निर्विकल्पदशा के समय अपनी उस प्रकार की परिणति दौड़ती हुई प्रगट होती है, उसमें पर का कोई आश्रय नहीं होता। अपनी सहज परिणति की दशा प्रगट हुई है। उस सहज स्वरूप आत्मा का सहज ज्ञान, उसका सहज दर्शन और उसकी सहज चारित्र परिणति सहज दशा से प्राप्त होती है, उसकी दौड़ ही उस ओर हो जाती है। उसे चैतन्य बिना चैन नहीं पड़ती, इसलिए उसकी ओर ही उसकी दौड़ हो जाती है। वह ही जीवन का कर्तव्य है। (43)

- यहाँ (आत्मा में) जिसने ज्ञायक की धारा प्रगटायी, उसे ज्ञायकधारा होने पर कर्ताबुद्धि छूट जाती है—अकेली ज्ञायकता रहती है; उसे आंशिक मुक्तदशा होती है, आंशिक निर्मलता की दशा और शान्ति प्रगट होती है। उसे विकल्प की ओर की दृष्टि उठाकर निर्विकल्पदशा होती है, वहाँ उसकी—चैतन्य की पूरी दशा ही अलग हो जाती है। वह तो—चेतन स्वयं अपने उत्पाद-व्यय में रमनेवाला, आनन्द आदि अनन्त गुणों में झूलनेवाला अनन्त गुण-पर्याय में रहनेवाला, चैतन्य का कोई अद्भुत स्वरूप प्रगट करता है। ज्ञाताधारा की उग्रता होने पर विकल्प छूट जाता है और निर्विकल्पदशा प्रगट होती है। ज्ञानी ऐसी ज्ञानधारा से रहते हैं। (44)

- आत्मकल्याण कर लेने की भावनावाला आत्मार्थी जीव दृढ़ तत्त्वनिर्णयपूर्वक, स्व-पर के भेद का अथवा ज्ञाता के ग्रहण का अभ्यास करके, उस अभ्यास की उग्रता द्वारा विकल्प टूटने से, आनन्द झरती निर्विकल्प स्वानुभूति को अवश्य प्राप्त कर लेता है। इसके लिये आत्मार्थी को ऐसा प्रयास करनेयोग्य है। ऐसा प्रयत्न करनेवाले, आत्मकल्याण की लगनीवाले आत्मार्थी जीव को विभाव में बिल्कुल शान्ति नहीं लगती; शान्ति एकमात्र आत्मा में ही भासित होती है—एकमात्र आत्मा में ही उसे सर्वस्व लगता है। यदि आत्मा में ही शान्ति लगे, सर्वस्व लगे तो ही उसका उग्र प्रयत्न होता है। (45)

- अनादि से अपरिचित ऐसे इस एक ज्ञायकभाव में भी मुझसे किस प्रकार पहुँचा जा सकेगा? ऐसे ढीले विचार न कर। भले अनादि से अपरिचित हो, परन्तु वह एक ज्ञायकभाव है तो तेरा अपना स्वभाव न? इसलिए वह सरल है, सुगम है, अनन्त

काल से उसका लक्ष्य किया नहीं, इसलिए दुष्कर लगता है, दुष्कर है नहीं।

हताश न हो तू उत्साहित हो। गुरुदेव पुरुषार्थी जीव का कैसा वर्णन करते थे!—

'जै दिशे सिंह संचरे, रजु लागी तरणा;
ते खड़ उभा सूकशे नहीं चावे तेने हरणा॥'

तू उस पुरुषार्थी सिंह की जाति का है। अरे! तू भगवान है, इसलिए प्रयत्न कर। अवश्य साध्य-सिद्धि होगी।

यह कहीं सिर पर बोझा हो जाये, ऐसा नहीं है।

अहो! कैसा सुन्दर मार्ग!

कैसा चैतन्य का मार्ग!

कैसा भगवान का मार्ग!

गुरुदेव ने कैसा मार्ग बताया! (46)

- गुरुदेव अद्‌भुत प्रतापी पुरुष थे, भारत के जलहलते सूर्य थे; अपने तारणहार थे। तारणहार चले गये; भक्तों को तारणहार का विरह पड़ा। भक्तों को तो ऐसे ही भाव होते हैं न कि तारणहार गुरुदेव शाश्वत् विराजमान रहे! परन्तु कुदरत के क्रम प्रमाण गुरुदेव द्रव्य अपेक्षा से शाश्वत् रहकर, पर्याय अपेक्षा से देव-पर्याय धारण करके, अपने से बहुत दूर क्षेत्र में विराज गये। अपने को तारणहार के पावन दर्शन-सत्संगादि अप्राप्य हो गये। क्या हो? अब, उस उपकारमूर्ति को परम भक्तिपूर्वक हृदय में विराजमान करके, उनकी आज्ञा को सदा ऊर्ध्व ही ऊर्ध्व रखकर, उनकी आज्ञानुसार जीवन जीना, यही सच्चा कर्तव्य है। ऐसा करने से इस सुलगते संसार के भयंकर दुखों से छूटकर शाश्वत् सुखमय अविचल धाम में हम अवश्य पहुँच जायेंगे। (47)

- विकल्प तोड़कर अन्दर स्वानुभूति कैसे प्रगट हो, वह प्रयत्न कर्तव्य है। अन्तर में भेदज्ञान हो तो ही मुक्ति की शुरुआत होती है। जो मोक्ष में गये हैं, वे भेदज्ञान से ही गये हैं। भेदज्ञान के अभाव में जीव भटका है। तू तेरे चैतन्य में पुरुषार्थ कर तो अन्दर

भेदज्ञान की धारा चले। उसमें ज्ञायक की-ज्ञातापने की स्वानुभूति हो, उसमें आगे बढ़ते-बढ़ते फिर उसकी अमुक भूमिका से मुनिदशा आवे, वहाँ क्षण-क्षण में अन्तर स्वानुभूति में जाये; बाहर आवे, वहाँ शुभविकल्प—पंच परमेष्ठी भगवन्त के, शास्त्र लिखने के आवे, तथा वापस अन्दर में जाये। ऐसे अन्तर में अन्तर्मुहूर्त और अन्तर्मुहूर्त में निर्विकल्प स्वानुभूति का अनुभव करे, ऐसा करते-करते केवलज्ञान पावे, पश्चात् सादि-अनन्त ऐसे के ऐसे रहे। 'सादि अनन्त अनन्त समाधि सुख में...' (48)

- ऊँचे में ऊँचे शुभभाव आवे सही, परन्तु वह तेरी जाति के नहीं, विभाव की जाति के हैं; तू उसे तुझसे भिन्न जान। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, दर्शनस्वरूप है, चारित्रस्वरूप है—ऐसे विकल्प के भेद पड़ें, वह शुभभाव है, परन्तु वह बीच में आये बिना रहते नहीं। तू तेरी श्रद्धा पृथक् कर—'मैं तो एक, अनन्त स्वभाव से भरपूर, चैतन्यतत्त्व हूँ'—ऐसे एक अभेद तत्त्व पर दृष्टि कर, पश्चात् उस तत्त्व में से जो प्रगट होगा, वह अनन्त प्रगट होगा कि जिसमें अनन्त शक्ति-ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि की अनन्तता भरी हुई है; अनन्त काल ज्ञानरूप, आनन्दरूप पर्याय परिणमे तो भी कभी कम हो ही नहीं। ऐसी अन्दर आत्मा में अनहद शक्ति भरी हुई है। (49)
- चैतन्य के तल पर पहुँचने से, उसकी पूर्णता कैसी होती है, साधक कैसा होता है, उसके आदि-मध्य-अन्त कैसे होते हैं—सब पता लग जाता है। मूल को पहिचाने बिना, उसकी साधकता किस प्रकार की होती है, यह भी खबर नहीं पड़ती। 'तल' में पहुँच जा तो सब पहिचान में आ जायेगा। पत्ते पर पानी डालने से नहीं, परन्तु मूल में पानी सींचने से आम्रवृक्ष फलता है। यह नहीं देखा? तो यहाँ ऊपर-ऊपर शुभभाव का पानी डालने से क्या होगा? मूल में ज्ञायक के अवलम्बनरूप पानी सींच न! (50)
- निवृत्तस्वरूप आत्मा की पहिचान करने में ही शान्ति है, बाकी सब धमाल... धमाल... धमाल है।

चैतन्यस्वभाव निवृत्तस्वरूप ही है। स्वभाव में प्रवृत्ति, वह विभाव से व्यावृति,

वही निवृत्ति। परभाव की प्रवृत्ति में जुड़ना, वह स्वभाव नहीं है, विभाव है, खेदरूप तथा आकुलतारूप है। अपना स्वभाव जो सहज है, वह खेदमय नहीं होता। अपना सहज स्वभाव जो अनादि-अनन्त है, परमपारिणामिकभावमय है, उसमें से स्वभाव -परिणति प्रगट होती है, वह सहज स्वभाव आनन्दरूप ही है।

निवृत्ति के पन्थ में जाना, वह मुक्ति का मार्ग है। उसमें से शान्ति की धारा प्रगट होती है। निवृत्ति का अर्थ शून्यता नहीं है; आत्मा अन्तर में तो आनन्द मुद्रित स्वसंवेदन सामर्थ्य से भरपूर है, उस स्वभाव को प्रगट कर। वह आश्चर्यरूप है, अनुपम है। गुरुदेव यह बतलाते थे। (51)

- आत्मा में ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त गुण भरे हुए हैं। वह जगत से पृथक्, अनुपम और आश्चर्यकारी तत्त्व है। उसे पहिचानकर स्वानुभूति करना, वही मुक्ति का मार्ग है। क्षणिक पर्यायें हैं, उनमें भी अटकनेयोग्य नहीं है। अनादि-अनन्त शाश्वत् चैतन्यद्रव्य कि जो पारिणामिकभावस्वरूप है, उसे पहिचानकर, उसके ऊपर दृष्टि देकर और दूसरे सबसे दृष्टि उठाकर अन्तर्दृष्टि प्रगट करना आत्मा की। चैतन्य... चैतन्य... चैतन्य की ओर जाना, परिणति को उसकी ओर लेना, मति और श्रुत का उपयोग जो बाहर जाता है, उसे अन्तर में लाना, यही करने का है। आत्मा की ओर परिणति को दौड़ाना; बारम्बार वही करना है। ऐसा करते हुए बीच में शुभभाव आवे सही, परन्तु वह तो पुण्यबन्ध का कारण है, आत्मा तो उन सबसे भिन्न है, सूक्ष्म में सूक्ष्म जो शुभभाव हो, उससे भी आत्मा भिन्न है—इस प्रकार सबसे निराला ऐसे चैतन्यतत्त्व की श्रद्धा करना। पहले श्रद्धा होती है और फिर जैसी श्रद्धा-प्रतीति हो, वैसा ही उसका पुरुषार्थ होता है। रुचि अनुयायी वीर्य। जिसकी जैसी रुचि और श्रद्धा हो, वैसा ही उसका पुरुषार्थ काम करता है। (52)

- अनन्त ज्ञेय ज्ञान में झलके तो भी मुझे उसमें आश्चर्य नहीं है। आश्चर्यकारी महिमावन्त तो मेरा आत्मा है। उस आत्मा में मैंने दृष्टि स्थापित की है। दृष्टि-अपेक्षा से क्रोध-मान-माया-लोभ तथा मन-वचन-काया आदि के सब विकल्पों का मुझमें अभाव है। परिणति में पुरुषार्थ उठने पर—उपयोग अपनी ओर झुकने पर स्वानुभूति होती

है; वहाँ ही आत्मा की विश्रान्ति है, अनन्त काल की थकान का विराम वहाँ ही है। अब तो मुझे दूसरा कुछ चाहिए नहीं, एक आत्मा ही चाहिए है। अनन्त काल से ज्ञेयों में एकत्वबुद्धिपूर्वक उन्हें ग्रहण करने की जो भूल करता था, वह अब मैंने छोड़ दी है। विभाव से पृथक् पड़ने पर मैं पाँच इन्द्रियों से भिन्न स्वयं ज्ञाता हो गया हूँ। स्व-पर को जानना, वह तो मेरा स्वभाव है; मैं आनन्दसागर में रहनेवाला, चैतन्य नगर में बसनेवाला हूँ; मुझे ज्ञेयों का आश्चर्य नहीं, पूरा लोकालोक ज्ञात हो जाये तो भी मुझे उसका आश्चर्य नहीं; मैं स्वयं ही आश्चर्यकारी महिमावन्त परमपदार्थ हूँ। (53)

- विभाव को मैं करता हूँ—ऐसी कर्ताबुद्धि अनादि की है। कर्ताबुद्धि तोड़कर ज्ञाताबुद्धि करने के बाद भी अस्थिरता रहती है, परन्तु स्वभाव की धारा जैसे उग्र होती जाती है, वैसे विभाव भी अल्प-अल्प होता जाता है। स्वभाव की धारा प्रगट कर। वीतराग दशा प्राप्त कर तो स्वभाव की धारा में विभाव सब क्षय होकर केवलज्ञान होगा। मुनि तो बारम्बार चेतन... चेतन... चेतनदेव के दर्शन करते हैं और बारम्बार स्वानुभूति का स्वाद लेते हैं। (54)

- साधक जीव को जिनेन्द्रदेव के प्रति ऐसा भक्तिभाव आता है कि—हे जिनेन्द्रदेव! आपके प्रताप से ही मेरे अन्तर में ज्ञायकदेव पधारे हैं। साथ ही साथ साधक का परिणमन 'ज्ञायकदेव' के प्रति भी निरन्तर ढला हुआ होता है, जो मानो कि ऐसा कह रहा है कि 'पधारो ज्ञायकदेव! पधारो; मेरे अन्तर के महल में विराजो। अनन्त-अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण हे ज्ञायकदेव! आपका मैं किस प्रकार से आदर करूँ? आपको मैं किस प्रकार से वन्दन करूँ? आपका मैं किस विधि से पूजन करूँ?' यहाँ, आदरणीय—वन्दनीय—पूजनीय भी स्वयं और आदर करनेवाला—वन्दन करनेवाला—पूजन करनेवाला भी स्वयं ही है; सब एक में ही है, भिन्न-भिन्न नहीं। (55)

- जिनेन्द्रभक्ति तो क्या, परन्तु चाहे जो कार्य करते हुए, साधक की दृष्टि ज्ञायकदेव पर ही पड़ी होती है। दृष्टि ज्ञायकदेव में जमी, सो जमी! वहाँ से वापस फिरती ही नहीं!

बाहर के नेत्र भले जिनेन्द्र पर एकाग्र हों, परन्तु अन्तर के नेत्र तो तब भी निजज्ञायकदेव से हटते नहीं। ज्ञायकदेव के दर्शन होने पर अनन्त गुणों में आंशिक शुद्धि की पर्याय प्रगट हुई; अब पूर्णता लिये बिना अन्तर के नयन वहाँ से वापस मुड़ते ही नहीं। द्रव्यदृष्टि जहाँ चिपटी, वहाँ से वह वापस मुड़ती नहीं। अन्तर में पूर्णता करके ही रहेगी। जैसे भगवान के दर्शन होने पर नेत्र वहाँ स्थिर हो जाते हैं; उसी प्रकार ज्ञायकदेव के दर्शन होने पर अन्तर के नेत्र—दृष्टि वहाँ चिपट जाती है। दृष्टि जमने पर ज्ञान भी वहाँ कथंचित् जम गया। फिर उपयोग अन्दर और बाहर ऐसे करते-करते अन्दर में पूरा जाकर केवलज्ञान प्रगट होता है। अहो! ज्ञायकदेव की और जिनेन्द्रदेव की अपार महिमा है। (56)

● यह जो अद्‌भुत चैतन्यदेव है, वह कहीं खाली नहीं है; वह तो अनन्त गुणरत्नों से भरपूर चमकता तत्त्व है। बाह्य दृष्टिवालों ने तो यह सुना भी नहीं; बाहर के क्रियाकाण्ड भले करे परन्तु वह तो छिलका कूटने जैसा है, कस तो अन्दर में है। बाहर के प्रयत्न से क्या होगा? अनन्त गुणरत्नों से तू ठसाठस भरा हुआ है, उन गुणरत्नों से चमकता पदार्थ, उस पर दृष्टि दे तो वह पावन पुराण पुरुष प्रगट होगा। आत्मा भगवत्स्वरूप है, पवित्र है, निर्विकल्पतत्त्व है। अनन्त गुणरत्नों से चमकता, भरपूर यह आत्मा, विकल्पों से नहीं परन्तु निर्विकल्प स्वानुभूति में ही ज्ञात होता है। स्वयं ज्ञान में ज्ञात हो, वेदन में-अनुभव में आये, अनन्त गुणरत्नाकर में स्वयं डूब जाये तो अनन्त सुख का अनुभव करे-ऐसा है। उसे किन शब्दों में कहा जाये? कोई पुरुष रत्न का महल देखकर आया हो और फिर बात करे तो क्या कहे? वह रत्न का महल तो धूल है, उसके लिये तो उपमा भी होती है, परन्तु इसके लिये क्या उपमा हो सकती है? इसका वर्णन क्या किया जाये? यह तो अनुपम तत्त्व है! (57)

● पूज्य गुरुदेव ने सबको द्रव्य की जो स्वतन्त्रता बतायी है, वह तो कोई अलौकिक है, गुरुदेव ने प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्रता दृष्टान्त दे-देकर समझायी है। द्रव्य-गुण-पर्याय सब स्वतन्त्र है। सब द्रव्य स्वतन्त्र है—चैतन्य का चैतन्य में और जड़ का जड़ में। जड़ स्वतन्त्र है, चैतन्य स्वतन्त्र है। विभाव पर्याय भी आत्मा का स्वभाव नहीं। मुक्ति

का मार्ग अन्तर में है, बाहर नहीं; उसका अंश भी अन्दर में है और पूर्णता भी अन्दर में है। ऐसा मार्ग बतलानेवाले इस पंचम काल में—विषम काल में एक गुरुदेव ही थे। एक गुरुदेव का ऐसे काल में जन्म हुआ तो कितनों को रुचि उत्पन्न हुई। सब क्रिया में और शुभभाव में धर्म मानते थे; मार्ग कोई जानता नहीं था, अभ्यन्तर का मार्ग गुरुदेव ने बताया है। (58)

- पुद्गल के द्रव्य-गुण-पर्याय पुद्गल में और तेरे द्रव्य-गुण-पर्याय तुझमें; तू उसे कर सकता नहीं और वह तुझे कुछ कर सकता नहीं। परद्रव्य के और अपने द्रव्य-काल-भाव भिन्न है, सब भिन्न है। अपना अस्तित्व अपने में है और दूसरे का अस्तित्व दूसरे में है। अपने चैतन्य अस्तित्व को ग्रहण करना, उसमें ही वास करने का प्रयत्न करना, यही करनेयोग्य है। यह पर की ओर के वास में तुझे जो सुख लगता है, वह सुखबुद्धि तोड़कर चैतन्य में वास करना, अन्दर तल में जाकर सुखनिधान ऐसे अपने आत्मा को पहिचानना। (59)
- मोक्षमार्ग में साध्य-साधकभाव के भेद बीच में आते हैं, परन्तु उसमें से 'एक' को ही साधना है। दृष्टि एक आत्मा पर ही है। एक को साधने से अन्तर में अनन्त गुण सध जाते हैं, सबको अलग-अलग साधना नहीं पड़ता। जीव को ऐसा लगता है कि अनन्त को किस प्रकार पहुँच सकेगा? परन्तु यह अनन्त को पहुँचना नहीं पड़ता। 'एक' को पहुँच जा तो सबको पहुँच जायेगा। सब भण्डार एक शुद्धात्मा में ही भरा हुआ है। बस, उस 'एक' को पहुँच जा। एक चैतन्यदेव की जो दिव्यतापूर्ण शक्ति, उसे पहिचान ले, उसकी दृष्टि कर, उस ओर परिणति कर, उसमें ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र की साधना होगी, उसमें ही तप की आराधना होगी। (60)
- आत्मा में विविध स्वभाव हैं, उसमें से विविध—अनेक प्रकार की पर्यायें तथा निर्मलतायें प्रगट होती हैं। यदि स्वभाव प्रगट करे तो उसे क्रमशः वे निर्मलतायें भी प्रगट होती जाती हैं और मुनिदशा आकर केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। अनन्त गुणों से खिला हुआ चैतन्य का जो भाग है, वही उसके रहने का स्थान है, वही उसे विहार करने का स्थान है। बाकी सब बाह्य है, उसे सुख का-आनन्द का स्थान नहीं है, तो भी उसने आनन्द माना है, वह मात्र उसकी कल्पना है। (61)

- ज्ञायक को पहिचानना, उसकी महिमा करना, उसका अभ्यास करना और उसमें लीनता करना, यह करने से चैतन्य प्रगट होने के बाद—चैतन्य की अद्भुत दशा पश्चात्-भेदज्ञान की धारा सहज वर्तती है। उसे चाहे जिस कार्य में—विकल्प में आया हो तो भी ज्ञानधारा छूटती नहीं। जागते, सोते, स्वप्न में, खाते-पीते उसे ज्ञायक की धारा छूटती नहीं और निर्विकल्पदशा की ओर उसकी परिणति, उसकी दशाप्रमाण सहज रहती है। मुनियों की दशा तो बारम्बार उसमें जाती है। ऐसा चैतन्य का स्वरूप, ऐसी चैतन्य की ओर की दिशा, जगत से उसकी कोई अलग ही दुनिया! चैतन्य की दुनिया! वही प्रगट करनेयोग्य है, वही जीवन का कर्तव्य है, वही गुरुदेव ने बताया है। इस भरतक्षेत्र में यह बात कोई जानता नहीं था; सब क्रियाकाण्ड में पड़े हुए थे। शुभभाव के कारणरूप क्रिया और शुभभाव से धर्म होता है—ऐसा माननेवाले थे। (62)
- स्वयं अपने में रहनेवाला पूर्ण स्वभाव से शाश्वत् चैतन्य पदार्थ है, परन्तु उसकी दृष्टि विभाव में गयी है, इसलिए उसके ज्ञान की शक्तियाँ तथा अन्य शक्तियाँ कम अथवा विकारी हो गयी हैं, इसलिए प्रगटता नहीं है। स्वभाव तो पूर्ण है, पर्याय की शक्ति न्यून हुई है। इसलिए स्वभाव से परिपूर्ण ऐसा जो आत्मा, उसकी ओर दृष्टि करना, उसका ज्ञान करना और उसकी ओर लीनता करनी, यह ही जीवन में करनेयोग्य है। (63)
- अनादि काल से जीव स्वयं बाहर में भटक रहा है। बाहर से सुख मिलता है, सब बाहर से मिलता है, ऐसा मान-मानकर बाहर में भटकता है, परन्तु सुख तो आत्मा में ही भरा हुआ है। ज्ञान भी आत्मा में ही है। ऐसे अनन्त गुण आत्मा में हैं कि जिनकी पर्यायें अनन्त काल तक उसमें परिणमा करे तो भी वह अनन्त अगाधता से भरपूर समुद्र परिपूर्ण-नियत रहता है। यह आत्मा एक स्वत:सिद्ध सहज वस्तु है, इसलिए उसे स्वभाव अनन्त-अनन्तता से भरपूर है। उसमें अनन्त शक्तिवाले अनन्त गुण हैं। प्रत्येक गुण की अनन्त शक्ति, उसमें अनन्त काल तक परिणमन होता रहे तो भी परिपूर्ण नियत रहता है। (64)

● 'एक' की साधना में सब आ जाता है। एक चैतन्यदेव जागृत हुआ तो उसके पीछे सभी शक्तियाँ जाग उठती हैं। वाह! अनन्त गुणों से गुँथा हुआ चैतन्यदेव जागृत होने पर सब गुणों में जागृति आ गयी।

ज्ञान की एक समय की पर्याय चैतन्य के अनन्त अविभाग अंशों का ज्ञान करे, समग्र लोकालोक को जाने, भूत-वर्तमान-भविष्य—तीनों काल तथा समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, इन सबको जाने;—यह सुनकर किसी को ऐसा लगे कि इन सबमें कैसे पहुँचा जा सकता है? परन्तु उन्हें कहाँ पहुँचना है? उन्हें कहाँ देखने जाना है? तुझे तो एक अन्तर में स्थिर होने का है। तू द्रव्य पर दृष्टि कर और उसमें स्थिर हो जा। तू तुझे पहुँच जा तो सर्वत्र पहुँच जायेगा। (65)

● आत्मा को—एकत्वविभक्त शुद्धात्मा को ग्रहण करने का अभ्यास करना। प्रत्येक कार्य में शुद्धात्मा जिस प्रकार से ग्रहण हो, उस रीति का उद्यम रखना। छह द्रव्य में एक शुद्धात्मा, नव तत्त्व में भी एक शुद्धात्मा ग्रहणयोग्य है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में भी आलम्बनभूत एक शुद्धात्मा ही है। बस, एक शुद्धात्मा को ग्रहण करना। वह शुद्धात्मा पर से और विभाव से विभक्त है और भेदभावों से भी न्यारा है, तथापि आत्मा में बीच में साधकदशा की पर्यायें आये बिना रहती नहीं, ऐसा ज्ञान करना। उस शुद्धात्मा को यथार्थ ग्रहण करके, उसकी प्रतीति और उसमें लीनता करने से स्वानुभूति प्रगट होती है, और वह स्वानुभूति ही आत्मा को जीवन में प्राप्त करनेयोग्य है। (66)

● शास्त्रों में भरे हुए गहन भाव खोलने की गुरुदेव में अजब शक्ति थी। उन्हें श्रुत की लब्धि थी। व्याख्यान में निकलते गम्भीर भाव सुनते हुए बहुत बार ऐसा लगता था कि 'यह तो क्या श्रुतसागर उछला है? ऐसे गम्भीर भाव कहाँ से निकलते हैं!' गुरुदेव के जैसी वाणी कहीं सुनी नहीं। उनकी अमृतवाणी के रणकार कितने मीठे थे!—मानो कि सुनते ही रहें। उनके जैसा, आत्मा को स्पर्श कर निकलता एक वाक्य भी कोई बोल नहीं सकता। अनुभवरस से सराबोर गुरुदेव की जोरदार वाणी के पडकार कोई अलग ही थे; पात्र जीवों के पुरुषार्थ को जगावे और मिथ्यात्व का

भुक्का उड़ा दे, ऐसी दैवी वाणी थी। अपना भाग्य कि गुरुदेव की इस मंगलमय कल्याणकारी वाणी टेप में उतरकर जीवन्त रही। (67)

- भव का अभाव तो एक चैतन्य की ओर दृष्टि करने से होता है। गुरुदेव ने कहा है कि शुभाशुभभावों में से दृष्टि उठा ले; उनके प्रति की एकताबुद्धि तोड़कर चैतन्य की ओर दृष्टि करने से भव का अभाव होता है। अनादि काल से पर सन्मुख दृष्टि होने से, बाह्यदृष्टि होने से जीव को सब बाहर का ही दिखता है, चैतन्य की निर्मलता तथा शुद्धता का ख्याल नहीं आता। (68)
- शुभाशुभभाव में आकुलता है। चैतन्य की ओर जाये तो जीव को शान्ति और आनन्द है। वह अनन्त ज्ञान तथा अनन्त आनन्द भरा हुआ है। वह आनन्द अन्दर में से प्रगट हुआ ही करता है। यदि स्व में दृष्टि करे, ज्ञान करे और लीनता करे तो वह प्रगट हुए बिना रहती ही नहीं। शुभाशुभभाव का आश्रय छोड़कर चैतन्य का आश्रय लेना, वही गुरुदेव ने बताया है। गुरुदेव ने बहुत स्पष्ट करके बताया है कि स्वानुभूति का मार्ग ही मुक्ति का मार्ग है और वही सुख का उपाय है। बस, यह ही एक करनेयोग्य है। गुरुदेव का परम उपकार है, मैं तो उनका दास हूँ। गुरुदेव ने जो बताया है, वही करनेयोग्य है। गुरुदेव ने इस मुमुक्षु समाज पर अपार उपकार किया है। देव-शास्त्र-गुरु की महिमापूर्वक चैतन्य की परिणति अन्दर से प्रगट करना चाहिए। अन्दर में पुरुषार्थ—मात्र विचाररूप नहीं किन्तु अन्दर से जो प्रगट हो, वह करनेयोग्य है। ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक का पुरुषार्थ और उसकी स्वानुभूति ही प्रगट करनेयोग्य है। (69)
- मुक्ति का मार्ग एक है। सब करके करनेयोग्य तो एक ही है—शाश्वत् शुद्ध आत्मा का आलम्बन! इसलिए उसके लिये आत्मा की पहिचान करना चाहिए। जहाँ तक स्वयं अन्तरंग परिणमनपूर्वक उसकी पहिचान न कर सके, तब तक उसे उसके लिये तत्त्वविचार इत्यादि का प्रयत्न हुए बिना रहता नहीं, परन्तु करनेयोग्य तो एक ही है—एक शाश्वत् शुद्ध आत्मा का अवलम्बन। गुरुदेव ने आत्म कल्याण का यही मार्ग बताया है। (70)

- आहा! मुनिराज की मन की निरालम्ब गति! वे बाहर से जंगल में बैठे हुए दिखते हैं, परन्तु अन्तर में तो कहीं विचरते होते हैं। घड़ी-घड़ी में एक स्वरूप में गहरे कहीं उतर जाते हैं। क्षण-क्षण में स्वरूप सन्मुख—आनन्द के धाम में निर्विकल्पदशा के आनन्दवेदन में ढल जाते हैं। उपयोग बाहर आता है, परन्तु एकदम निरालम्बन होकर क्षण में अन्दर उतर जाते हैं। (71)
- ज्ञान, दर्शन और आनन्द आदि अनन्त-अनन्त शक्तियों से भरपूर आत्मा अनादि काल से उसरूप ही है—ऐसा का ऐसा ही है। उस आत्मा को पहिचानना, यही जीवन का ध्येय होना चाहिए। भेदज्ञान की धारा कैसे प्रगट हो और आत्मा कैसे ग्रहण हो, उसी क्षण-क्षण में अन्तर में लगन लगनी चाहिए, यही करनेयोग्य है। (72)
- श्रुत के तल को शोधकर आत्मा के तल को—ज्ञायकभाव को—शोध ले। आत्मा के तल का पता लगने पर श्रुत का तल उसमें आ गया। आत्मा के तल का—ज्ञायकभाव का आश्रय मुख्य है, वह होने पर बेड़ा पार है। उसमें से ही सब प्रगट होगा। अनन्त काल से वह आश्रय ही बाकी रह गया है। (73)
- अहो! अनन्त गुणों से गुँथा हुआ तू एक है, उस एक को तू पहुँच जा। उस एक के अवलम्बन से स्वभाव परिणति हुई कि पूरा चक्र स्वभाव की ओर ढल गया। तेरी दृष्टि स्वभावसन्मुख झुकी तो सब गुणों का स्वभाव परिणमन शुरु हो गया। फिर तो उसमें लीनता करते-करते पूर्ण तक पहुँच जायेगा। (74)
- द्रव्य—मूल वस्तु ही उसे कहा जाता है कि जिस स्वभाव से परिपूर्ण द्रव्य को कोई अन्य द्रव्य विघ्न, हानि या नाश नहीं कर सकता। (75)
- अपना पूर्ण द्रव्यस्वभाव अरूपी होने पर भी स्वयं उसे जान तो सकता है, परन्तु स्वयं इसके लिये प्रयत्न नहीं करता, इसलिए उसे जानता नहीं। उस पूर्ण स्वभाव की श्रद्धा हो सकती है और स्वानुभूति में भी वह आता है। स्वभाव तो सदा है, वह कहीं हानि को प्राप्त नहीं हुआ। स्वभाव को स्वयं जान सकता है, स्वयं उसे अनुभूति में ले सकता है; विशेष लीनता करने से वह विशेष प्रगट होता है और केवलज्ञान होने पर वह पूर्ण प्रगट हो सकता है। गुरुदेव ने यह मार्ग बताया है, उनका अपने ऊपर अनन्त-अनन्त उपकार है। (76)

- गुरुदेव का तो परम उपकार है। पर और विभाव के साथ की एकत्वबुद्धि तोड़कर अन्दर चैतन्य की ओर सन्मुखता करके, उसके साथ एकत्व करे तो वस्तुस्वरूप यथार्थ समझ में आये। एकत्व के लिये उसका निरन्तर अभ्यास, लगनी और बारम्बार प्रयत्न करना चाहिए। गुरुदेव ने तो चारों पहलुओं से मार्ग बतलाया है—इतना स्पष्ट करके बतलाया है कि कहीं भूल रह न जाये, परन्तु पुरुषार्थ करने का तो स्वयं को है। (77)
- मैं ज्ञायक हूँ... ज्ञायक हूँ—ऐसी ज्ञातापने की धारा का अभ्यास करना। यथार्थ तो बाद में होता है, परन्तु पहले उसका अभ्यास होता है। उसका अभ्यास बारम्बार करे तो वह प्रगट हुए बिना रहे नहीं। करने का यह एक ही है। अनादि काल में जीव ने एक सम्यग्दर्शन किया नहीं, बाहर का दूसरा सब किया है। अहा! सम्यग्दर्शन, वह कोई अपूर्व चीज़ है। (78)
- ज्ञानी की दृष्टि अद्‌भुत महिमावन्त द्रव्यस्वभाव पर पड़ी होने से उसे जगत का कुछ चाहिए नहीं। उसे सब इच्छायें टूट गयी हैं। जगत के विविध पदार्थ भले ज्ञात हों, परन्तु 'मैं तो ज्ञाता ही हूँ' ऐसे भाव से परिणमता हुआ वह ज्ञेयों को एकत्वपूर्वक ग्रहण नहीं करता, भिन्न ही वर्तता है। (79)
- करुणासागर गुरुदे करुणा से कहते थे, भाई! करने का तो तुझे ही है न? तेरे उपादान को तैयार करके, गुणों का भण्डार जो ज्ञायकदेव, उसकी शरण में जा। उसकी शरण में जाने से तेरे अनादि काल के मिथ्यात्वादि दोष सहज टल जायेंगे। दोष टालने का यही एक उपाय है। एक ज्ञायकभाव का आश्रय लेते ही एक साथ सभी दोषों का यथासम्भव आंशिक नाश होता है। इसलिए तू कुछ भी करके ज्ञायक का आश्रय ले। (80)
- अहो! मुनिराज की दशा की तो क्या बात करना! आत्मद्रव्य स्वभाव से 'स्वयंभू' भगवान है। मुनिराज (यथायोग्य) निरालम्बनरूप से परिणमते हुए पर्याय में (यथायोग्य) स्वयंभू हो गये हैं। तेरा स्वरूप भी स्वयंभू है; इसलिए तू निरालम्बी पुरुषार्थ कर। तू आत्मा के ओर की रुचि प्रगट कर तो तेरे सम्यक् पुरुषार्थ की गति शुरु होगी। (81)

- आत्मा ऐसी अनन्तता से भरपूर है कि अनन्त काल परिणमे तो भी परिपूर्ण अनन्त रहे। उसे मूलस्वभाव में से पहिचान। यह सब मार्ग गुरुदेव ने खोल-खोलकर बतलाया है। इस काल में मार्ग समझना बहुत मुश्किल है; कोई कहीं अटक जाता है और कोई कहीं अटक जाता है। (82)

- गुरुदेव ने तो मार्ग बतलाया है। आत्मा का हित करने के लिये इस मार्ग पर चलना है। जगत में सर्वोत्कृष्ट वस्तु एक ज्ञायक—आत्मा है, उसे पहिचानना। यह दूसरा सब जगत में कोई सर्वोत्कृष्ट नहीं, अपना आत्मा ही एक सर्वोत्कृष्ट है। उसके लिये तत्पर होकर देव-गुरु-शास्त्र की महिमा तथा एक ही ज्ञायक... ज्ञायक... आत्मा का रटन और भेदज्ञान की धारा प्रगट करना, उसकी उग्रता करना—ज्ञातापने की उग्रता करना। (83)

- भगवान की रत्ननिर्मित प्रतिमायें भी आश्चर्यकारी है, तो तू तो स्वयं अनादि-अनन्त शाश्वत् चैतन्यरत्नाकर! दिव्यध्वनि में इस चैतन्यरत्नाकर की बातें बहुत आती हैं। उन्हें सुनकर जीव उसे देखने की ओर झुकता है, ऐसी उपादान-निमित्त की सन्धि है। अनादि काल से भटकते जीव को प्रथम देशनालब्धि होती है—भले फिर भगवान की वाणी हो या गुरुदेव की वाणी हो, उसे सुनकर जीव अपनी ओर मुड़ता है। (84)

- गुरुदेव ने कहा है : 'करने का तो अपने को ही है।' शक्कर का स्वभाव अलग है और काली जीरी का स्वभाव अलग है; उसी प्रकार ज्ञान, ज्ञानस्वभाव से और जड़, जड़स्वभाव से होता है—दोनों भिन्न-भिन्न हैं। विभावपर्याय भी आकुलतारूप है, आत्मा का स्वभाव नहीं। आत्मा निराकुल है, उसका स्वरूप विभाव से भिन्न ज्ञानमय है। शास्त्र में आता है न कि सुवर्ण में से सुवर्ण की पर्याय होती है; उसी प्रकार ज्ञान में से ज्ञान की पर्याय होती है। शुद्धात्मा को समझने का मन्त्र मिला है, वह पूज्य गुरुदेव से मिला है। करने का तो स्वयं को ही है, दूसरा कोई कर नहीं देता। गुरुदेव ने जो बताया है, उसरूप स्वयं परिणमन करे तो प्रगट होता है। मात्र ऊपर-ऊपर से नहीं होता, परन्तु अन्तर की गहराई में जाकर प्रयत्न करे तो ही प्रगट होता है। जहाँ

तत्त्व है, वहाँ ही दृष्टि दे, वहाँ ही परिणति को दौड़ावे, वहाँ ही स्थिर हो, वहाँ ही लीन हो, उसका ही ज्ञान करे, उसका ही ध्यान करे तो प्रगट होता है। जिसे बाहर का रस लगा हो, वह उसका—बाहर का कितना मन्थन करता है?—इसी प्रकार अन्तर में जाकर प्रयत्न करे तो प्रगट होता है। (85)

- अहो! जिनकी मुद्रा शान्त सुधारस का सरोवर है, ऐसे प्रभु! आपको निरखते हुए मुझे तृप्ति ही नहीं होती, मेरे नयन वापस फिरते ही नहीं। जगत में जो कुछ देखने लायक हो तो वह सर्वोत्कृष्ट निज ज्ञायकदेव और सर्वोत्कृष्ट जिनेन्द्रदेव है। जगत में दूसरा कोई भी आश्चर्यजनक नहीं। प्रभु! मेरे नयन आपके दर्शन से सफल हुए। मैं आपको एकटक देखा ही करूँ। (86)
- जिनप्रतिमा के दर्शन करते हुए 'मैं भगवान सदृश ही हूँ' ऐसी भावना आवे, आत्मा और परमात्मा में भेद न रहे तो निद्धत और निकाचित कर्म भी टूट जाते हैं, परन्तु बिना समझे नहीं। यह तो अन्तरंग समझपूर्वक की बात है। (87)
- स्फटिक की भाँति आत्मा स्वभाव से निर्मल है। जैसे लाल-पीले फूल के कारण स्फटिक लाल-पीला दिखता है परन्तु स्वभाव से वैसा नहीं है, उसी प्रकार मूल द्रव्यस्वभाव से आत्मा शुद्ध है, परन्तु पर्याय में जो विभाव है, उससे दृष्टि उठाकर अन्तर्दृष्टि करना चाहिए। (88)
- पहले में पहले चैतन्य को पहिचानना, चैतन्य में ही विश्वास करना और फिर चैतन्य में ही स्थिर होना... तो चैतन्य प्रगटे, उसकी शक्ति प्रगटे। प्रगट करने में अपनी तैयारी—उग्र पुरुषार्थ बारम्बार करे, ज्ञायक का ही अभ्यास, ज्ञायक का मंथन, उसका ही चिन्तवन करे तो प्रगट होता है।

  पूज्य गुरुदेव ने मार्ग बतलाया है, चारों पहलुओं से स्पष्ट किया है। (89)
- अनादि काल से स्वयं अपना स्वरूप छोड़ा नहीं, परन्तु भ्रान्ति के कारण 'छोड़ दिया है', ऐसा भासित हुआ है। अनादि काल से द्रव्य तो शुद्धता से भरपूर है, ज्ञायकस्वरूप ही है, आनन्दस्वरूप ही है। अनन्त चमत्कारिक शक्तियाँ उसमें भरी हुई है। (90)
- अहो! आचार्यदेव की तो क्या बात करना! एकत्व-विभक्त स्वरूप स्वानुभवमुद्रित

निज वैभव द्वारा सुन्दर रीति से दर्शाया है। आत्मा को स्वरूप से एकत्वमय तथा पर और विभाव से विभक्त जानना, वही मुक्ति का मार्ग है। स्वरूप से एकत्वमय और विभाव से विभक्त ऐसे निज आत्मा को पहिचानने का जीव ने कभी प्रयत्न किया नहीं। आत्मा ही सर्वस्व है; जगत में आश्चर्यभूत एक आत्मा ही है, दूसरी कोई वस्तु आश्चर्यभूत नहीं; इसलिए एक आत्मा को ही ग्रहण करना। उसे ही ग्रहण करने का अभ्यास, वही जीवन का कर्तव्य है। (91)

- **मुमुक्षु :** निर्विकल्पदशा होने पर वेदन किसका होता है? द्रव्य का या पर्याय का?

  पूज्य बहिनश्री : दृष्टि तो ध्रुवस्वभाव की ही होती है; वेदन में आती है आनन्दादि पर्याय। स्वभाव से द्रव्य तो अनादि-अनन्त है जो बदलता नहीं, उस पर दृष्टि करने से, उसका ध्यान करने से अपनी विभूति का प्रगट अनुभव होता है। (92)

- गुरुदेवश्री की दूज (जन्मजयन्ती-वैशाख शुक्ल दूज) गई न! इसलिए दूज के ही भणकारा बजते हैं। गुरुदेव का जन्म दूज के दिन हुआ। दूज के बाद पूर्णिमा होगी ही, इसी प्रकार गुरुदेव ने अन्दर में सम्यक्त्व की दूज उगाई है, तो आत्मा पूर्ण स्वरूप होगा ही। ऐसे पूर्ण शक्तिवान के लक्ष्य से ऐसी पूर्ण वीतरागता प्रगट करने के लक्ष्य से—आत्मद्रव्य के लक्ष्य से और ऐसे पूर्णता को पहुँचने के लक्ष्य से-पूर्ण पर्यायरूप पूर्णिमा प्रगट होती है। (93)

- गुरुदेव तो सहज प्रतापी पुरुष थे। उनके प्रताप से चारों ओर स्वानुभूति के मीठे सुर बजते हैं। यहाँ चारों ओर गुरुदेव की शीतल छाया छा गयी है, यहाँ इन भगवान की, जिनेन्द्र मन्दिरों की और गुरुदेव की ही मंगल छाया में रहा जाता है। जगत में ऐसे गुरुदेव का सान्निध्य मिलना मुश्किल है। गुरुदेव जहाँ विचरे, वह भूमि मिलना भी मुश्किल है। गुरुदेव का सान्निध्य और उनकी मंगल प्रभा जहाँ आच्छादित हो, वह मिलना मुश्किल है। (94)

- संक्षेप में करने का तो एक ही है—ज्ञायकतत्त्व का आश्रय। पूज्य गुरुदेव ने यही बतलाया है, वही सारभूत है। बाकी सब निःसार है। ज्ञायकतत्त्व कहो, शुद्धात्मद्रव्य कहो, परमपारिणामिकभाव कहो—सब एक ही है। उसका ही आश्रय, उसकी ही

दृष्टि-ज्ञान-रमणता करनेयोग्य है, उससे ही—स्वानुभूति से मुक्ति तक की सभी शुद्ध पर्यायें प्रगट होती हैं और शाश्वत् पूर्णानन्द की प्राप्ति होती है।

सम्यक् मार्गदर्शक कृपालु गुरुदेव का अपार उपकार है। (95)

- रात और दिन उसकी (-आत्मा की) धगश लगे, उसकी लगन लगे तो भेदज्ञान की धारा अन्दर चले—मैं ज्ञायक हूँ, मैं ज्ञायक हूँ, विभाव से भिन्न का भिन्न मैं ज्ञायक हूँ। रटने जितना नहीं परन्तु स्वभाव को पहिचानकर अन्दर चैतन्य पर दृष्टि करे, उसका ज्ञान करे और उसमें लीनता करे, तो निर्विकल्प स्वानुभूति होती है, यह मार्ग सब पूज्य गुरुदेव ने खुल्ला किया है। (96)

- जब तक अनुभूति न हो, वहाँ तक उसकी श्रद्धा करे, महिमा लावे तो भी अच्छा है। अनुभूति की भावना कर। अनुभूति हो जाये, वह तो बहुत सुन्दर है परन्तु उसके किनारे आ जाये, वह भी अच्छा है, उसकी समीपता हो जाये, वह भी बढ़िया है। विभाव और संयोग की समीपता छोड़कर, ज्ञायक की समीपता हो जाये तो भी अच्छा है। ज्ञायक की साक्षात् अनुभूति तो लोकोत्तर चीज़ है। (97)

- द्रव्य पर दृष्टि करना, वही करनेयोग्य है। उसके ऊपर दृष्टि करने से बारम्बार उस ओर का अभ्यास करने से और भेदज्ञान की धारा प्रगट करने से विकल्प से हटकर जो निर्विकल्प स्वानुभूति प्रगट होती है, वह मुक्ति का मार्ग है, ऐसा गुरुदेव ने बतलाया है। (98)

- अनन्त गुणों से भरपूर आत्मा जो स्वयं भेदज्ञान करे कि यह जो पर है, वह 'मैं' नहीं, विभाव मेरा स्वरूप नहीं। मैं उनसे अत्यन्त भिन्न शाश्वत् चैतन्यपदार्थ हूँ—ऐसे भेदज्ञानपूर्वक यदि तू शाश्वत द्रव्य की दृष्टि करे, उसका ज्ञान करे, उसमें लीनता करे तो वह प्रगट हुए बिना रहे नहीं। (99)

- 'सर्व गुणांश, वह सम्यक्त्व।' एक सम्यक्त्व प्रगट होते ही स्वरूपाचरण चारित्रादि सब गुणों के यथासम्भव अंश प्रगट होते हैं, इसलिए सम्यक्त्वरूप परिणमते ही तेरी दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधना शुरु होगी और तेरा आत्मा दिव्यता से—शुद्धता से खिल उठेगा। आहा! ऐसी साधना करनेवाले मुनिराजों की तो क्या बात! क्षण-क्षण

में अन्दर में जाते हैं, स्वरूप की साधना करते हैं। उनकी शक्ति तो कोई अलग ही है! (100)

- सब—माता-पितादि को छोड़कर तुमने (ब्रह्मचारिणी बहिनों ने) गुरुदेव के सान्निध्य में निवृत्ति ली है तो निवृत्तिस्वरूप इस आत्मा के निवृत्तिस्वभाव में दृष्टि देकर निवृत्तिपन्थ उज्ज्वल करनेयोग्य है। निवृत्तिरूप इस आत्मा की दृष्टि करना, वही मनुष्य जीवन की सफलता है। बीच में शुभभाव भले आवे, परन्तु दृष्टि तो निवृत्तस्वभाव पर ही रखना। वही मार्ग शुभाशुभभावों से भिन्न निवृत्तस्वरूप निज आत्मा में दृष्टि लगाकर, अंगीकृत किये हुए निवृत्तिपन्थ को शोभायमान करनेयोग्य है। (101)
- सच्चा निवृत्तिपन्थ तो गुरुदेव ने बतलाया है। तू तेरी स्वभावक्रिया का करनेवाला है, तो भी अन्दर में स्थिरता प्राप्त न हो सके तो शुभभाव के कार्य होते हैं। पूजा-भक्ति इत्यादि के भाव आते हैं, तो भी वे सर्वस्व नहीं हैं; सर्वस्व तो—सम्पूर्णरूप से आदरणीय तो 'वीतराग होना', वह है। शुभभाव व्यवहार से आदरणीय कहे जाते हैं, निश्चय से तो हेय हैं। (102)
- **मुमुक्षु :** मुमुक्षु जीव प्रथम क्या करे?

  पूज्य बहिनश्री : प्रथम द्रव्य-गुण-पर्याय सबको पहिचाने। चैतन्यद्रव्य के सामान्य स्वभाव को पहिचानकर, उसके ऊपर दृष्टि करके, उसका अभ्यास करते-करते चैतन्य उसमें स्थिर हो जाये तो उसमें विभूति है, वह प्रगट होती है। चैतन्य के असली स्वभाव की लगन लगे तो प्रतीति होती है; उसमें स्थिर हो तो उसका अनुभव होता है। (103)
- विकल्प तोड़कर अन्दर स्वानुभूति कैसे प्रगट हो, वह प्रयत्न कर्तव्य है। अन्दर में भेदज्ञान हो तो ही मुक्ति की शुरुआत होती है। जो मोक्ष में गये हैं, वे भेदज्ञान से ही गये हैं। भेदज्ञान के अभाव से जीव भटका है। तू तेरे चैतन्य में पुरुषार्थ कर तो अन्दर भेदज्ञान की धारा चले। (104)
- तू निरालम्बन चाल से चलना सीख। इसके लिये जिनेन्द्र कथित वस्तुस्वरूप की तू समझण कर। उस समझण में व्यवहार से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु निमित्त होते हैं।

देव-शास्त्र-गुरु मार्ग बतलाने में महानिमित्त हैं। तू तेरा उपादान अन्दर से तैयार कर, वहाँ निमित्त तो तैयार होता ही है। (105)

- आत्मा तो अनुपम पदार्थ है। श्री समयसार में कहा है कि '**अनेकान्तमयीमूर्ति नित्यमेव प्रकाशताम्।**' अर्थात् कि अनेकान्तमय मूर्ति जिनवाणी—सदा प्रकाशमान रहो। किसलिए? कारण कि वह अनन्त धर्मोंवाले महान आत्मपदार्थ के तत्त्व को प्रसिद्ध करती है। ऐसा ज्ञान-आनन्द इत्यादि अनन्त धर्मोंवाला आत्मा कोई अपूर्व महिमावन्त महापदार्थ है। उसे पहिचानने का सतत् उग्र प्रयत्न किया जाये तो वह अवश्य प्रगट होता है। उसके त्रिकाली स्वभाव को पहिचानकर उसका अवलम्बन लेने से, जिस जाति का उसका शाश्वत् स्वभाव है, उस जाति की शुद्धस्वभावपर्याय प्रगट होती है। विभाव के आलम्बन से विभावपर्याय होती है। इसलिए आत्मार्थी को स्वभाव की दृष्टि-ज्ञान-रमणता करनेयोग्य है। (106)

- गुरुदेव ने कहा है कि एक ज्ञायक को पहिचानो; बस, दूसरा सब चैतन्य से भिन्न है। यह शरीर भिन्न, विभाव पर्याय आत्मा का स्वभाव नहीं;—सब उससे भिन्न है। एक चैतन्यदेव—ज्ञायक, वह अनादि-अनन्त शाश्वत है। अनन्त द्रव्यों के साथ रहे तो भी वह ऐसा का ऐसा है। उसके द्रव्य-गुण उनमें जाते नहीं, उनके द्रव्य-गुण-पर्याय इसमें आते नहीं, सबके अपने-अपने में ही रहते हैं। ऐसे अनन्त द्रव्यों के पास रहे तो भी स्वयं तो ऐसा का ऐसा। उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव—सब उसके उसमें, दूसरे के दूसरों में हैं। उसका स्वभाव छूटकर किसी समय परद्रव्यरूप होता नहीं। उसके गुण पररूप होते नहीं, पर्यायें भी पररूप होती नहीं। (107)

- मैं क्या बोलूँ? गुरुदेव ने बहुत सुनाया है। गुरुदेव का परम उपकार है। इस भरतक्षेत्र में सब चैतन्य का स्वरूप समझाया हो तो गुरुदेव ने। गुरुदेव ने जो मार्ग बतलाया है, उस मार्ग से ही सबको चलना है। इस पंचम काल में—इस विषम काल में गुरुदेव का जो जन्म हुआ, वह महाभाग्य की बात थी। गुरुदेव ने यहाँ पधारकर 'चैतन्य कोई अपूर्व है' ऐसी उसकी अपूर्वता बतायी और अन्तर्दृष्टि करने का समझाया, वह गुरुदेव का परम उपकार है। (108)

- गुरुदेव से जो सुना है, उसे पचाना। ध्येय एक शुद्धात्मा का ही रखना। उसके लिये ही वांचन, विचार करना योग्य है। शुद्धात्मा को पहिचानो, उसे अवलम्ब कर, तद्रूप परिणति प्रगट करने का गुरुदेव कहते थे। जीव अनादि काल से शुभाशुभभाव करता आया है, अब तो शुद्धात्मा को ग्रहण कर। अनन्त जीवों ने उस शुद्धात्मा के मार्ग से चलकर स्वानुभूति को साधकर, अन्तर समाधि को साधा है। तू भी उसी मार्ग से चल—यह, गुरुदेव की सीख थी। (109)

*** ***

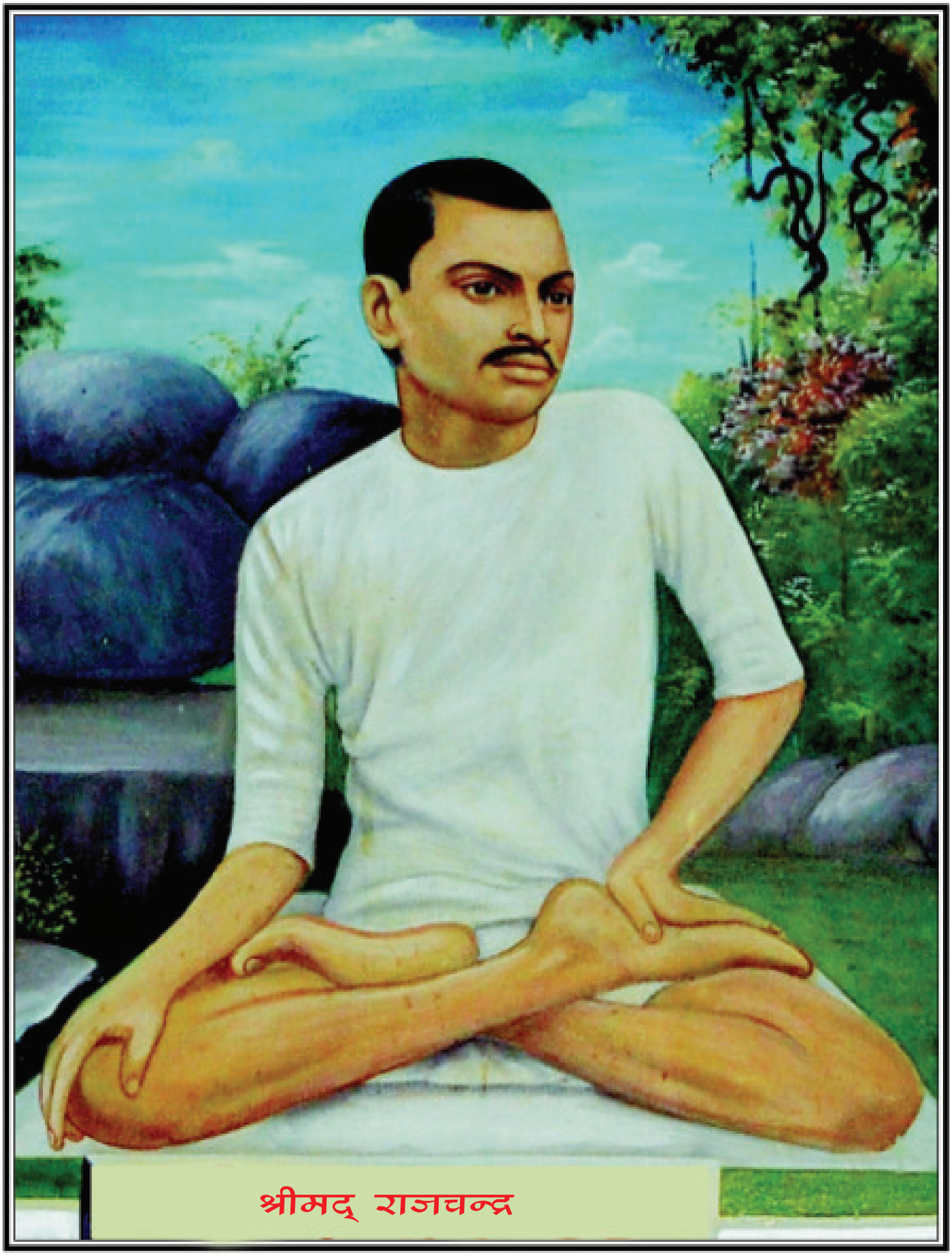

श्रीमद् राजचन्द्र

—: तृतीय विभाग :—

श्रीमद् राजचन्द्र के वचनामृत

> यह जो वचन लिखे हैं, वह सर्व मुमुक्षु को परम बांधवरूप है, परम रक्षकरूप है; और उसे सम्यक् प्रकार से विचार करने से परमपद को दें, ऐसे हैं। उसमें निर्ग्रन्थ प्रवचन का समस्त द्वादशांगी, षट्दर्शन का सर्वोत्तम तत्त्व और ज्ञानियों के बोध का बीज संक्षेप में कहा है; इसलिए बारम्बार इसे स्मरण करना; विचारना; समझना; समझने के लिये प्रयत्न करना; उसे बाधा करे, ऐसे दूसरे प्रकारों में उदासीन रहना; उसमें ही वृत्ति का लक्ष्य करना। यह तुमको और किसी भी मुमुक्षु को गुप्त रीति से कहने का हमारा मन्त्र है; उसमें 'सत्' ही कहा है। कि समझने के लिये बहुत ही समय व्यतीत करना। — श्रीमद् राजचन्द्र

- देह की जितनी चिन्ता रखता है, उतनी नहीं, परन्तु उससे अनन्तगुनी चिन्ता आत्मा की रख, क्योंकि अनन्त भव एक भव में टालना है। (1)
- हे नाथ! सातवीं तमतमप्रभा नरक की वेदना मिली होती तो सम्मत करता परन्तु जगत की मोहनी सम्मत नहीं होती। (2)
- पूर्व के अशुभकर्म उदय आने पर वेदने से जो सोच करते हो तो अब यह भी ध्यान रखो कि नये बाँधते परिणाम से वैसे तो नहीं बँधते? (3)
- 'अनन्त काल हुआ जीव को परिभ्रमण करते हुए तो भी उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती और वह क्या करने से होगी?' इस वाक्य में अनेक अर्थ समाहित हैं। उसे विचार किये बिना या दृढ़ विश्वास से झूरे बिना मार्ग के अंश का भी अल्प भान नहीं होता। दूसरे सब विकल्प दूर करके यह एक ऊपर लिखा हुआ सत्पुरुषों का वचनामृत बारम्बार विचार लेना। (4)
- स्वयं स्वयं का वैरी, यह वह कैसी खरी बात है! (5)

- गम पड़े बिना आगम अनर्थकारक हो जाते हैं। सत्संग के बिना ध्यान तरंगरूप हो जाता है। सन्त के बिना अन्त की बात में अन्त प्राप्त नहीं होता। लोकसंज्ञा से लोकाग्र में नहीं जाया जाता। लोकत्याग बिना वैराग्य यथायोग्य पाना दुर्लभ है। (6)
- देहधारी को विटम्बना यह तो एक धर्म है। वहाँ खेद करके आत्मविस्मरण क्या करना? निरूपायता के आगे सहनशीलता ही सुखदायक है। (7)
- अनादि काल का परिभ्रमण अब समाप्तता को पावे ऐसी जिज्ञासा, वह भी एक कल्याण ही है। कोई ऐसा यथायोग्य समय आ रहेगा कि जब इच्छित वस्तु की प्राप्ति हुई रहेगी। (8)
- पात्रता प्राप्ति का प्रयास अधिक करो। (9)
- हे कर्म! तुझे निश्चय आज्ञा करता हूँ कि नीति और नेकी ऊपर मुझे पैर रखाना नहीं। (10)
- उदासीनता, वह अध्यात्म की जननी है। (11)
- नाना प्रकार का मोह पतला होने से आत्मा की दृष्टि अपने गुण से उत्पन्न होते सुख में जाती है, और फिर उसे प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करता है। यही दृष्टि उसे उसकी सिद्धि देती है। (12)
- दृष्टि ऐसी स्वच्छ करो कि जिसमें सूक्ष्म में सूक्ष्म दोष भी दिखाई दे सके; और दिखने से क्षय हो सके। (13)
- अरे! हे दुष्टात्मा! पूर्व में वहाँ बराबर सन्मति नहीं रखी और कर्मबन्ध किया तो अब तू ही उसके फल भोगता है। तू या तो जहर पी और या तो उपाय तत्काल कर। (14)
- सत्पुरुष के एक-एक वाक्य में, एक-एक शब्द में अनन्त आगम रहे हैं, यह बात कैसे होगी? (15)
- दो अक्षर में मार्ग कहा है और अनादि काल से इतना अधिक करने पर भी किसलिए प्राप्त हुआ नहीं, इसलिए वह विचार करो। (16)
- अनन्त काल से अपने को अपने सम्बन्ध में ही भ्रान्ति रह गयी है; यह एक अवाच्य,

अद्‌भुत विचारणा का स्थल है। जहाँ मति की गति नहीं, वहाँ वचन की गति कहाँ से होगी? (17)

- सत्संग, यह बड़े में बड़ा साधन है। (18)
- जो छूटने के लिये ही जीता है, वह बन्धन में आता नहीं। यह वाक्य निःशंक अनुभव का है। (19)
- सर्व प्रकार की क्रिया का, योग का, जप का, तप का और इसके अतिरिक्त के प्रकार का लक्ष्य ऐसा रखना कि आत्मा को छोड़ने के लिये सर्व हैं, बन्धन के लिये नहीं। जिससे बन्धन हो, वह सब त्यागनेयोग्य है। (20)
- उपाधि में भी निवृत्ति का लक्ष्य रखने का स्मरण रखना। (21)
- यद्यपि ज्ञानी भक्ति चाहते नहीं, परन्तु मोक्षाभिलाषी को यह किये बिना उपदेश परिणमता नहीं और मनन तथा निदिध्यासन आदि का हेतु नहीं होता, इसलिए मुमुक्षु को ज्ञानी की भक्ति अवश्य कर्तव्य है, ऐसा सत्पुरुषों ने कहा है। (22)
- मैं कर्ता, मैं मनुष्य, मैं सुखी, मैं दुःखी—यह इत्यादि प्रकार से रहा हुआ देहाभिमान, वह जिसका गल गया है और सर्वोत्तम पदरूप परमात्मा को जिसने जाना है, उसका मन जहाँ-जहाँ है, वहाँ-वहाँ उसे समाधि ही है। (23)
- ...कदम-कदम पर भयवाली अज्ञान भूमिका में जीव बिना विचारे कोट्यवधि योजन चला करता है, वहाँ योग्यता का अवकाश कहाँ से हो? (24)
- योग्यता ज्ञान प्राप्ति के लिये बहुत बलवान कारण है। (25)
- सुदृढ़ स्वभाव से आत्मार्थ का प्रयत्न करना। आत्मकल्याण प्राप्त होने में बहुधा बारम्बार प्रबल परीषह आने का स्वभाव है। परन्तु यदि वह परीषह शान्तचित्त से वेदन किये जायें तो दीर्घ काल में हो सकनेयोग्य ऐसा कल्याण बहुत अल्प काल में साध्य है। (26)
- तुम सब ऐसे शुद्ध आचरण से वर्तना कि विषम दृष्टि से देखनेवाले लोगों में से बहुतों को अपनी उस दृष्टि का काल जाने पर पश्चाताप करने का समय आवे। (27)

- यम अन्त काल में प्राणियों को दुःखदायक नहीं लगता हो, परन्तु हमको संग दुःखदायक लगता है। (28)
- 'सत्' वह कुछ दूर नहीं, परन्तु दूर लगता है और वही जीव का मोह है। (29)
- मार्ग सरल है, प्राप्ति दुर्लभ है। (30)
- परमानन्द हरि को एक क्षण भी न विसरना, यह हमारी सर्व कृति, वृत्ति और लेख का हेतु है। (31)
- स्वरूपचिन्तन-भक्ति सर्व काल में सेव्य है। (32)
- तृषातुर को पिलाने की मेहनत करना। अतृषातुर को तृषातुर होने की जिज्ञासा पैदा करना, जिसे वह पैदा न हो, वैसा हो, उसके लिये उदासीन रहना। (33)
- ज्ञान वही कि अभिप्राय एक ही हो, थोड़ा अथवा बहुत प्रकाश, परन्तु प्रकाश एक ही है। (34)
- शास्त्रादिक के ज्ञान से निवेडा नहीं परन्तु अनुभवज्ञान से निवेड़ा है। (35)
- ऐसा एक ही पदार्थ परिचय करनेयोग्य है कि जिससे अनन्त प्रकार के परिचय निवृत्त होते हैं; वह कौन सा? और किस प्रकार से? इसका विचार मुमुक्षु करते हैं। (36)
- जगत में भला दिखाने के लिये मुमुक्षु कुछ आचरण नहीं करता, परन्तु भला हो, वही आचरण करता है। (37)
- उदय को अबन्ध परिणाम से भोगा जाये तो ही उत्तम है। (38)
- चाहे जो क्रिया जप, तप या शास्त्रवाँचन करके भी एक ही कार्य सिद्ध करना है; वह यह कि जगत की विस्मृति करना और सत् के चरण में रहना; और उस एक ही लक्ष्य पर प्रवृत्ति करने से जीव को स्वयं को क्या करना योग्य है और क्या करना अयोग्य है, यह समझ में आता है, समझ जाता है। (39)
- जगत आत्मरूप मानने में आवे; जो होता है, वह योग्य ही मानने में आवे; पर के दोष

देखने में न आवे; अपने गुण का उत्कृष्टपना सहन करने में आवे तो ही इस संसार में रहनायोग्य है, दूसरे प्रकार से नहीं। (40)

- मन से किया हुआ निश्चय साक्षात् निश्चय मानना नहीं। ज्ञानी से हुआ निश्चय जानकर प्रवर्तने में कल्याण है। (41)
- स्वरूप सहज में है, ज्ञानी के चरण सेवन बिना अनन्त काल तक भी प्राप्त न हो, ऐसा विकट भी है। (42)
- दूसरे काम में प्रवर्तते हुए भी अन्यत्वभावना से वर्तने का अभ्यास रखना योग्य है। (43)
- प्रमाद में वैराग्य की तीव्रता, मुमुक्षुता मन्द करनेयोग्य नहीं—ऐसा निश्चय रखना योग्य है। (44)
- जिन्दगी अल्प है, और जंजाल अनन्त है, संख्यात धन है, और तृष्णा अनन्त है; वहाँ स्वरूपस्मृति सम्भव नहीं, परन्तु जहाँ जंजाल अल्प है और जिन्दगी अप्रमत्त है, तथा तृष्णा अल्प है अथवा नहीं है और सर्व सिद्धि है, वहाँ स्वरूपस्मृति पूर्ण होना सम्भव है। अमूल्य ऐसा ज्ञानजीवन प्रपंच में आवृत्त हुआ चला जाता है। उदय बलवान है! (45)
- लौकिक दृष्टि से तुम और हम प्रवर्तगें तो फिर अलौकिक दृष्टि से कौन प्रवर्तेगा? (46)
- सम्यक् प्रकार से ज्ञानी में अखण्ड विश्वास रखने का फल निश्चय से मुक्तपना है। (47)
- 'माँगा हुआ खाकर गुजारा चलायेंगे, परन्तु खेद नहीं पायेंगे, ज्ञान के अनन्त आनन्द के समक्ष यह दुःख तृणमात्र है।' इस भावार्थ का जो वचन लिखा है, उस वचन को हमारा नमस्कार हो! ऐसा जो वचन, वह वास्तविक योग्यता बिना निकलना सम्भव नहीं है। (48)
- चारों ओर उपाधि की ज्वाला प्रज्वलित होती हो, उस प्रसंग में समाधि रहना, वह परम दुष्कर है और यह बात तो परम ज्ञानी के बिना होना विकट है, हमको भी

आश्चर्य हो जाता है, तथापि ऐसा प्रायः वर्ता ही करता है, ऐसा अनुभव है। (49)

- .....किसी भी काम के प्रसंग में अधिक सोच में पड़ने का अभ्यास कम करना; ऐसा करना अथवा होना, वह ज्ञानी की अवस्था में प्रवेश करने का द्वार है। (50)
- सांसारिक उपाधि हमको भी कम नहीं है, तथापि उसमें स्वपना रहा नहीं होने से, उससे घबराहट उत्पन्न नहीं होती। (51)
- परमार्थ प्राप्त होने में किसी भी प्रकार का आकुल-व्याकुलपना रखना—होना, उसे दर्शन परीषह कहा है। वह परीषह उत्पन्न हो, वह सुखकारक है, परन्तु यदि धीरज से उसे वेदन करे तो उसमें से दर्शन की उत्पत्ति होना सम्भव होता है। (52)
- यह लोकस्थिति ही ऐसी है कि इसमें सत्य का भावन करना परम विकट है। रचना सब असत्य के आग्रह की भावना करानेवाली है। (53)
- लोकस्थिति आश्चर्यकारक है। (54)
- भ्रान्तिगतरूप से सुखस्वरूप भासता है, ऐसे ये संसारी प्रसंग और प्रकारों में जब तक जीव को प्रियता वर्तती है, तब तक जीव को अपना स्वरूप भासित होना असम्भवित है और सत्संग का माहात्म्य भी तथारूपपने भास्यमान होना असम्भवित है। जब तक यह संसारगत प्रियता असंसारगत प्रियता को प्राप्त न हो, तब तक अवश्य अप्रमत्तरूप से बारम्बार पुरुषार्थ का स्वीकार योग्य है। यह बात तीनों काल में अविसंवाद जानकर निष्कामरूप से लिखी है। (55)
- आरम्भ और परिग्रह का जैसे-जैसे मोह मिटता है, जैसे-जैसे उनमें से अपनेपने का अभिमान मन्दता को प्राप्त होता है; वैसे-वैसे मुमुक्षुता वर्धमान हुआ करती है। अनन्त काल के परिचयवाला यह अभिमान प्रायः एकदम निवृत्त नहीं होता। इसके लिये, तन-मन-धनादि जो कुछ अपनेरूप से वर्तते होते हैं, वे ज्ञानी के प्रति अर्पण किये जाते हैं; प्रायः ज्ञानी कहीं उन्हें ग्रहण नहीं करते, परन्तु उसमें से अपनापना मिटाने का ही उपदेश करते हैं और करनेयोग्य भी ऐसा ही है कि आरम्भ-परिग्रह को बारम्बार के प्रसंग से विचार-विचार कर अपने होने में रोकना, तब मुमुक्षुता निर्मल होती है। (56)

- जो वास्तव्य ज्ञानी को पहिचानते हैं, वे मानादि को चाहते नहीं, ऐसा हमारा अन्तरंग अभिप्राय वर्तता है। (57)
- किसी का दोष नहीं, हमने कर्म बाँधे, इसलिए हमारा दोष है। (58)
- जिस ज्ञान से भवान्त होता है, वह ज्ञान प्राप्त होना जीव को बहुत दुर्लभ है; तथापि वह ज्ञान, स्वरूप से तो अत्यन्त सुगम है—ऐसा जानते हैं। वह ज्ञान सुगमरूप से प्राप्त होने में जो दशा चाहिए है, वह दशा प्राप्त होना बहुत-बहुत कठिन है और वह प्राप्त होने में जो दो कारण, वे मिले बिना जीव को अनन्त काल हुआ भटकना पड़ा है, जो दो कारण मिलने से मोक्ष है। (59)
- जगत के अभिप्राय के प्रति देखकर जीव पदार्थ का बोध पाया है, ज्ञानी के अभिप्राय के प्रति देखकर पाया नहीं। जो जीव ज्ञानी के अभिप्राय से बोध पाया है, उस जीव को सम्यग्दर्शन होता है। (60)
- जिस जीवितव्य में क्षणिकपना है, उस जीवितव्य में ज्ञानियों ने नित्यपना प्राप्त किया है, यह अचरज की बात है। (61)
- जिसे बोधबीज की उत्पत्ति होती है, उसे स्वरूपसुख से परितृप्तपना वर्तता है और विषय के प्रति अप्रयत्नदशा वर्तती है।

  यदि जीव को परितृप्तपना वर्तता न हो तो अखण्ड ऐसा आत्मबोध उसे समझना नहीं। (62)
- अनन्त काल में जो प्राप्त हुआ नहीं, उस प्राप्तपने में अमुक काल व्यतीत हो तो हानि नहीं है। मात्र अनन्त काल में जो प्राप्त हुआ नहीं, उसमें भ्रान्ति हो, भूल हो, वह हानि है। जो ऐसा परम ज्ञानी का स्वरूप भास्यमान हुआ है तो फिर उसके मार्ग में अनुक्रम से जीव का प्रवेशपना हो, यह सरल प्रकार से समझ में आये, ऐसी वार्ता है। (63)
- सर्व प्रकार से उपाधियोग तो निवृत्त करनेयोग्य है, तथापि यदि वह उपाधियोग सत्संगादिक के लिये ही इच्छित किया जाता हो तथा फिर चित्तस्थिति सम्भवरूप से रहती हो तो उस उपाधियोग में प्रवर्तना श्रेयस्कर है। (64)

- किसी भी प्रकार से भविष्य का सांसारिक विचार छोड़कर वर्तमान में समपने प्रवर्तने का दृढ़ निश्चय करना, यह तुमको योग्य है; भविष्य में जो होनेयोग्य होगा, वह होगा, यह अनिवार्य है—ऐसा गिनकर परमार्थ—पुरुषार्थ की ओर सन्मुख होना योग्य है। (65)
- जिनागम है, वह उपशमस्वरूप है। उपशमस्वरूप ऐसे पुरुषों ने उपशम के लिये उसे प्ररूपित किया है—उपदेशित किया है। वह उपशम आत्मार्थ के लिये है, अन्य कोई प्रयोजन के लिये नहीं। यदि आत्मार्थ में उसका आराधन करने में न आया तो वह जिनागम श्रवण-वाँचन निष्फलरूप है, यह वार्ता हमें तो निःसन्देह यथार्थ लगती है। (66)
- एक बड़ी निश्चय की वार्ता तो मुमुक्षु जीव को वही करनायोग्य है कि सत्संग जैसा कल्याण का कोई बलवान कारण नहीं है और उस सत्संग में निरन्तर समय-समय निवास चाहना, असत्संग का क्षण-क्षण में विपरिणाम विचारना, वह श्रेयरूप है। बहुत-बहुत करके यह वार्ता अनुभव में लानेयोग्य है। (67)
- संसार में उदासीन रहने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। (68)
- 'सत्' एक प्रदेश भी असमीप नहीं है, तथापि उसे प्राप्त होने में अनन्त अन्तराय—लोकप्रमाण प्रत्येक ऐसे रहे हैं। जीव का कर्तव्य यह है कि अप्रमत्तरूप से उस 'सत्' का श्रवण, मनन, निदिध्यासन करने का अखण्ड निश्चय रखना। (69)
- मुमुक्षुजन सत्संग में हो तो निरन्तर उल्लासित परिणाम में रहकर आत्मसाधन अल्प काल में कर सकते हैं, यह वार्ता यथार्थ है, तथा सत्संग के अभाव में समपरिणति रहना विकट है, तथापि ऐसा करने में ही आत्मसाधन रहा होने से चाहे जैसे बुरे निमित्त में भी जिस प्रकार से समपरिणति आवे, उस प्रकार से प्रवर्तना, वही योग्य है। ज्ञानी के आश्रय में निरन्तर वास हो तो सहज साधन द्वारा भी समपरिणाम प्राप्त होते हैं। उसमें तो निर्विवादता है, परन्तु जब पूर्व कर्म के निबन्धन से अनुकूल नहीं ऐसे निमित्तों में निवास प्राप्त हुआ है, तब चाहे जैसे करके भी उनके प्रति अद्वेषपरिणाम रहे, ऐसा प्रवर्तना, वही हमारी वृत्ति है और वही शिक्षा है। (70)

- समयमात्र भी प्रमाद करने की तीर्थंकरदेव की आज्ञा नहीं है। (71)
- अल्प प्रमाद होने का उपयोग, वह जीव को मार्ग के विचार में स्थिति कराता है, और विचार, मार्ग में स्थिति कराता है, यह बात बारम्बार विचारकर वह प्रयत्न वहाँ वियोग में भी किसी प्रकार से करना घटित होता है। यह बात भूलनेयोग्य नहीं है। (72)
- प्रदेश-प्रदेश से जीव के उपयोग को आकर्षक ऐसे इस संसार में समयमात्र भी अवकाश लेने की ज्ञानी पुरुषों ने हाँ कही नहीं है, केवल उस विषय में नकार किया है। (73)
- संसार स्पष्ट प्रीति से करने की इच्छा होती हो तो उस पुरुष ने ज्ञानी के वचन सुने नहीं हैं, अथवा ज्ञानी पुरुष के दर्शन भी उसने किये नहीं है—ऐसा तीर्थंकर कहते हैं। (74)
- जिसकी कमर टूट गयी है, उसका प्राय: सब बल परिक्षीणता को प्राप्त होता है। जिसे ज्ञानी पुरुष के वचनरूप लकड़ी का प्रहार हुआ है, उस पुरुष में उस प्रकार से संसारसम्बन्धी बल होता है, ऐसा तीर्थंकर कहते हैं। (75)
- सर्व से स्मरणयोग्य बात तो बहुत है, तथापि संसार में एकदम उदासीनता, पर के अल्प गुण में भी प्रीति, अपने अल्प दोष में भी अत्यन्त क्लेश, दोष के विलय में अत्यन्त वीर्य का स्फुरण, ये बातें सत्संग में अखण्ड एक शरणागतरूप से ध्यान में रखनायोग्य है। जैसे बने वैसे निवृत्तिकाल, निवृत्तिक्षेत्र, निवृत्तिद्रव्य और निवृत्तिभाव को भजना। तीर्थंकर, गौतम जैसे ज्ञानी पुरुष को भी सम्बोधन करते थे कि समयमात्र भी प्रमादयोग्य नहीं है। (76)
- परमार्थमार्ग का लक्षण यह है कि अपरमार्थ को भजते हुए जीव सब प्रकार से कायर हुआ करे, सुख से अथवा दु:ख से। दु:ख में कायरपना कदापि दूसरे जीवों को भी सम्भव है, परन्तु संसारसुख की प्राप्ति में भी कायरता, उस सुख का अरुचिपना, नीरसपना परमार्थमार्गी पुरुष को होता है। (77)
- जिस वस्तु का माहात्म्य दृष्टि में से गया, उस वस्तु के लिये अत्यन्त क्लेश नहीं

होता। संसार में भ्रान्तिरूप से जाना हुआ सुख, वह परमार्थ ज्ञान से भ्रान्ति ही भासित होती है और जिसे भ्रान्ति भासित हुई है, उसे फिर उसका माहात्म्य क्या लगे ? (78)

- जीव को मुख्य में मुख्य यह बात विशेष ध्यान देनेयोग्य है कि सत्संग हुआ हो तो सत्संग में सुना हुआ शिक्षाबोध परिणाम पाकर, सहज जीव में उत्पन्न हुआ कदाग्रहादि दोष तो छूट जाना चाहिए कि जिससे सत्संग का अवर्णवादपना बोलने का प्रसंग दूसरे जीवों को आवे नहीं। (79)
- जीव का मूढ़पना बारम्बार, क्षण-क्षण में, प्रसंग-प्रसंग में विचारने में यदि सचेतपना न रखा गया तो ऐसा योग (सत्संग) बना, वह भी वृथा है। (80)
- हमारे चित्त में तो ऐसा आता है कि मुमुक्षु जीव को इस काल में संसार की प्रतिकूल दशायें प्राप्त होना, वह उसे संसार से तिरने के बराबर है। अनन्त काल से अभ्यासित ऐसा यह संसार स्पष्ट विचारने का समय प्रतिकूल प्रसंग में विशेष होता है, यह बात निश्चय करनेयोग्य है। (81)
- मुझे ऐसा लगता है कि जीव को मूलरूप से देखने पर जो मुमुक्षुता आयी हो तो नित्य प्रति उसका संसारबल घटा करे, संसार में धनादि सम्पत्ति घटे या नहीं, वह अनित्य है, परन्तु संसार के प्रति जिस जीव की भावना, वह शिथिल पड़ा करे; अनुक्रम से नाश पानेयोग्य होती है। (82)
- प्रतिकूल प्रसंग यदि समता से वेदन किये जायें तो जीव को निर्वाण समीप का साधन है। व्यवहारिक प्रसंगों का नित्य चित्र-विचित्रपना है। मात्र कल्पना से उसमें सुख और कल्पना से उसमें दुःख, ऐसी उसकी स्थिति है। अनुकूल कल्पना से वह अनुकूल भासित होता है; प्रतिकूल कल्पना से वह प्रतिकूल भासित होता है और ज्ञानी पुरुषों ने यह दोनों कल्पनायें करने का निषेध किया है। (83)
- जो कभी प्रगटरूप से वर्तमान में केवलज्ञान की उत्पत्ति हुई नहीं, परन्तु जिसके वचन के विचारयोग से शक्तिरूप से केवलज्ञान है, ऐसा स्पष्ट जाना है, श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है, विचारदशा से केवलज्ञान हुआ है, इच्छादशा से केवलज्ञान हुआ है, मुख्य नय के हेतु से केवलज्ञान वर्तता है, वह केवलज्ञान सर्व अव्याबाध सुख का

प्रगट करनेवाला, जिसके योग से सहजमात्र में जीव पानेयोग्य हुआ, उस सत्पुरुष के उपकार को सर्वोत्कृष्ट भक्ति से नमस्कार हो! नमस्कार हो!! (84)

- जो मुमुक्षु जीव गृहस्थ व्यवहार में वर्तता हो, उसे तो अखण्ड नीति का मूल प्रथम आत्मा में स्थापित करना चाहिए, नहीं तो उपदेशादि का निष्फलपना होता है। (85)
- आत्मा को बारम्बार संसार का स्वरूप कारागृह जैसा क्षण-क्षण में भासित हुआ करे, वह मुमुक्षुता का मुख्य लक्षण है। (86)
- जिस व्यवसाय से जीव को भावनिद्रा का घटना न हो, वह व्यवसाय कोई प्रारब्धयोग से करना पड़ता हो तो वह बारम्बार वापस हटकर, 'बड़ा भयंकर हिंसावाला दुष्ट काम ही यह किया करता हूँ' ऐसा बारम्बार विचार कर और 'जीव में शिथिलपने से ही प्राय: मुझे यह प्रतिबन्ध है'—ऐसा बारम्बार निश्चय करके जितना बने, उतना व्यवसाय संक्षेप करते हुए प्रवर्तना हो तो बोध का फलना सम्भवित है। (87)
- जीव की भूल देखने पर तो अनन्त विशेष लगती है, परन्तु सर्व भूल की बीजभूत भूल, इस जीव को प्रथम में प्रथम विचारना घटित होता है कि जिस भूल का विचार करने से सर्व भूल का विचार होता है और जिस भूल के मिटने से सर्व भूल मिटती है। कोई जीव कदापि नाना प्रकार की भूल का विचार करके उस भूल से छूटना चाहे, तो भी वह कर्तव्य है, और वैसी अनेक भूल से छूटने की इच्छा मूल भूल से छूटने का सहज कारण होता है। (88)
- जैसे बने वैसे जीव के अपने दोष के प्रति लक्ष्य करके दूसरे जीव के प्रति निर्दोषदृष्टि रखकर वर्तना और वैराग्य उपशम का जैसे आराधन हो, वैसे करना, यह प्रथम स्मरणयोग्य बात है। (89)
- हे जीव! इस क्लेशरूप संसार से विराम पा... विराम पा! कुछ विचार कर, प्रमाद छोड़कर जागृत हो! जागृत हो!! नहीं तो रत्नचिन्तामणि जैसा यह मनुष्यदेह निष्फल जायेगा। (90)
- श्री तीर्थंकरादि माहात्माओं ने ऐसा कहा है कि जिसे विपर्यास मिटकर देहादि में हुई आत्मबुद्धि और आत्मभाव में हुई देहबुद्धि मिटी है अर्थात् आत्मा आत्मपरिणामी

हुआ है, ऐसे ज्ञानी पुरुष को भी जब तक प्रारब्ध व्यवसाय है, तब तक जागृति में रहना योग्य है, क्योंकि अवकाश प्राप्त होने पर अनादि विपर्यास भय का हेतु वहाँ भी हमने जाना है। (91)

- यदि जीव को आरम्भ-परिग्रह का प्रवर्तन विशेष रहता हो तो वैराग्य और उपशम हो तो वे भी चले जाना सम्भव है, क्योंकि आरम्भ-परिग्रह, वह अवैराग्य और अनुपशम के मूल हैं—वैराग्य और उपशम के काल हैं। (92)
- सत्संग है, वह काम जलाने का बलवान उपाय है। सर्व ज्ञानी पुरुष ने काम को जीतना अत्यन्त दुष्कर कहा है, वह एकदम सिद्ध है और जैसे-जैसे ज्ञानी के वचन का अवगाहन होता है, वैसे-वैसे कुछ न कुछ पीछे हटते हुए अनुक्रम से जीव का वीर्य बलवान होकर काम का सामर्थ्य जीव से नाश किया जाता है। काम का स्वरूप ही ज्ञानी पुरुष के वचन सुनकर जीव ने जाना नहीं, और यदि जाना होता तो उसमें एकदम निरसता हुई होती। (93)
- पानी स्वभाव से शीतल होने पर भी किसी बर्तन में डालकर नीचे अग्नि सुलगती रखी हो तो उसकी निरिच्छा होने पर भी वह पानी उष्णपना प्राप्त करता है, उसी प्रकार यह व्यवसाय, समाधि से शीतल ऐसे पुरुष के प्रति उष्णता का हेतु होता है—यह बात हमको तो स्पष्ट लगती है। (94)
- जीव को सत्पुरुष का योग होने पर तो ऐसी भावना हो कि—अभी तक जो मेरे प्रयत्न कल्याण के लिये थे, वे सब निष्फल थे, लक्ष्य बिना के बाण की भाँति थे, परन्तु अब सत्पुरुष का अपूर्व योग हुआ है, तो मेरे सर्व साधन सफल होने का हेतु है। (95)
- जो प्रत्येक-प्रत्येक परमाणु हैं, वे सब अपने-अपने स्वरूप में ही रहे हैं। कोई भी परमाणु अपना स्वरूप तजकर दूसरे परमाणुरूप किसी भी प्रकार से परिणमने के योग्य नहीं है। मात्र वे एक जाति होने से और उनमें स्पर्शगुण होने से उस स्पर्श के समविषमयोग से उनका मिलना हो सकता है, परन्तु वह मिलना कहीं ऐसा नहीं है कि जिसमें कुछ भी परमाणु ने अपना स्वरूप तजा हो। करोड़ों प्रकार से वे अनन्त

परमाणुरूप सोने का लोंदादार को एक रसरूप करो, तो भी प्रत्येक परमाणु अपने ही स्वरूप में ही रहता है, अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, तजता नहीं; क्योंकि वैसा बनने का किसी भी प्रकार से अनुभव नहीं हो सकता। (96)

- अपने में उत्पन्न हुआ हो, ऐसा महिमायोग्य गुण, उससे उत्कर्ष प्राप्त होना घटित नहीं होता परन्तु अल्प भी निज दोष देखकर बारम्बार पश्चाताप में पड़ना घटित होता है और बिना प्रमाद से उससे विमुख होना घटित होता है, यह शिक्षा ज्ञानी पुरुषों के वचन में सर्वत्र रही है और यह भाव आने के लिये सत्संग, सद्गुरु और सत्शास्त्रादि साधन कहे हैं; जो अनन्य निमित्त हैं। (97)
- स्त्री, पुत्र, आरम्भ, परिग्रह के प्रसंगों में से यदि निजबुद्धि छोड़ने का प्रयास किया न जावे तो सत्संग फलवान होना सम्भव किस प्रकार बने ? जिस प्रसंग में महाज्ञानी पुरुष सम्हालकर चलते हैं, उसमें इस जीव को तो अत्यन्त-अत्यन्त सम्हाल से, संक्षेपकर चलना, यह बात भूलने जैसी है ही नहीं, ऐसा निश्चय करके, प्रसंग-प्रसंग में, कार्य-कार्य में और परिणाम-परिणाम में उसका लक्ष्य रखकर उनसे खुल्ला हुआ जाये, ऐसा ही किया करना। (98)
- मुमुक्षु जीव को अर्थात् विचारवान जीव को इस संसार में अज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कोई भय नहीं होता। एक अज्ञान की निवृत्ति इच्छने से उसरूप वह इच्छा, इसके अतिरिक्त विचारवान जीव को दूसरी इच्छा नहीं होती। (99)
- असार और क्लेशरूप आरम्भ-परिग्रह के कार्य में बसते हुए यदि यह जीव कुछ भी निर्भय या अजागृत रहे तो बहुत वर्षों का उपासित वैराग्य भी निष्फल जाता है, ऐसी दशा हो आती है, ऐसा नित्यप्रति निश्चय सम्हालकर निरुपाय प्रसंग में कँपते चित्त न ही छूटकर प्रवर्तना घटित होता है, इस बात का मुमुक्षु जीव को कार्य-कार्य में, क्षण-क्षण में और प्रसंग-प्रसंग में लक्ष्य रखे बिना मुमुक्षुता रहनी दुर्लभ है और ऐसी दशा वेदन किये बिना मुमुक्षुपना भी सम्भव नहीं है। मेरे चित्त में मुख्य विचार अभी यह वर्तता है। (100)
- जिस प्रकार से बन्धन से छूटा जाये, उस प्रकार से प्रवर्तना, वह हितकारी कार्य है।

बाह्य परिचय को विचार-विचारकर निवृत्त करना, यह छूटने का एक प्रकार है। जीव यह बात जितनी विचारेगा, उतना ज्ञानी पुरुष का मार्ग समझने का समय समीप प्राप्त होगा। (101)

- किसी भी जीव को अविनाशी देह की प्राप्ति हुई, ऐसा देखा नहीं, जाना नहीं तथा सम्भवित नहीं; और मृत्यु का आना अवश्य है, ऐसा प्रत्यक्ष निःसंशय अनुभव है, ऐसा होने पर भी यह जीव इस बात को बार-बार भूल जाता है, यह बड़ा आश्चर्य है। (102)
- आत्मपरिणाम से जितना अन्य पदार्थ का तादात्म्य-अध्यास निवर्तना, उसे श्री जिन त्याग कहते हैं, वह तादात्म्य-अध्यास निवृत्तिरूप त्याग होने के लिये इस बाह्य प्रसंग का त्याग भी उपकारी है—कार्यकारी है। बाह्य प्रसंग के त्याग के लिये अन्तर त्याग कहा नहीं, ऐसा है तो भी इस जीव ने अन्तर त्याग के लिये बाह्य प्रसंग की निवृत्ति को कुछ भी उपकारी मानना योग्य है। (103)
- सबकी अपेक्षा विचारनेयोग्य बात तो अभी यह है कि उपाधि की जाये और केवल असंगदशा रहे, ऐसा बनना अत्यन्त कठिन है; और उपाधि करने से आत्मपरिणाम चंचल न हो, ऐसा बनना असम्भवित जैसा है। उत्कृष्ट ज्ञानी को गौण करते हुए अपने सबने तो आत्मा में जितना असम्पूर्ण—असमाधिपना वर्तता है वह, अथवा वर्त सके ऐसा हो वह, उच्छेद करना, यह बात लक्ष्य में अधिक लेना योग्य है। (104)
- आत्मा सबसे अत्यन्त प्रत्यक्ष है, ऐसा परमपुरुष ने किया हुआ निश्चय, वह भी अत्यन्त प्रत्यक्ष है। (105)
- सर्व की अपेक्षा जिसमें अधिक स्नेह रहा करता है, ऐसी यह काया वह रोग, जरा आदि से स्वात्मा को दुःखरूप हो पड़ती है, तो फिर उससे दूर ऐसे धनादि से जीव को तथारूप सुखवृत्ति हो, ऐसा मानते हुए विचारवान की बुद्धि अवश्य क्षोभ को प्राप्त होनी चाहिए और कोई दूसरे विचार में जानी चाहिए, ऐसा ज्ञानी पुरुषों ने निर्णय किया है, वह यथातथ्य है। (106)

- सहजस्वरूप से जीव रहित नहीं है, परन्तु उस सहजस्वरूप का मात्र भान जीव को नहीं है, जो होना, वही सहजस्वरूप से स्थिति है। (107)

- वायु का बदलाव होने से जहाज का दूसरी ओर खिंचाव होता है, तथापि जहाज चलानेवाला जैसे पहुँचनेयोग्य मार्ग की ओर जहाज को रखने के प्रयत्न में ही वर्तता है। उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष मन-वचनादि योग को निजभाव में स्थिति होने की ओर ही प्रवर्तते हैं, तथापि उदय-वायुयोग से यत्किंचित् दशा बदलाव होती है, तो भी परिणाम प्रयत्न स्वधर्म के विशेष ही है। (108)

- विचारवान को देह छूटने सम्बन्धी हर्ष-विषाद घटित नहीं होते। आत्मपरिणाम का विभावपना, वही हानि और वही मुख्य मरण है, स्वभावसन्मुखता तथा उसकी दृढ़ इच्छा भी उस हर्षविषाद को टालती है। (109)

- अवश्य इस जीव को प्रथम सर्व साधन को गौण जानकर, निर्वाण का मुख्य हेतु ऐसा सत्संग ही सर्वार्पणरूप से उपासना करनेयोग्य है; जिससे सर्व साधन सुलभ हों, ऐसा हमारा आत्मसाक्षात्कार है।

  वह सत्संग प्राप्त होने पर यदि इस जीव को कल्याण प्राप्त न हो तो अवश्य इस जीव का ही दोष है, क्योंकि उस सत्संग के अपूर्व, अलभ्य, अत्यन्त दुर्लभ ऐसे योग में भी उसने उस सत्संग के योग को भी बाधा करनेवाले ऐसे बुरे कारणों का त्याग नहीं किया! (110)

- सत्संग का अर्थात् सत्पुरुष की पहिचान होने पर भी वह योग निरन्तर रहता न हो तो सत्संग से प्राप्त हुआ है, ऐसा जो उपदेश, उसे प्रत्यक्ष सत्पुरुषतुल्य जानकर विचार करना तथा आराधन करना कि जिस आराधना से जीव को अपूर्व ऐसा सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। (111)

- सत्समागम और सत्शास्त्र के लाभ को इच्छते ऐसे मुमुक्षुओं को आरम्भ-परिग्रह और रसस्वादादि प्रतिबन्ध संक्षेप करनेयोग्य है, ऐसा श्री जिनादि महापुरुषों ने कहा है। जब तक अपने दोष विचारकर संक्षेप करने को प्रवृत्तिमान न हुआ जाये, वहाँ

तक सत्पुरुष का कहा हुआ मार्ग परिणाम प्राप्त करना कठिन है। इस बात पर मुमुक्षु जीव को विशेष विचार करना घटित होता है। (112)

- सत्संग के अयोग में तथाप्रकार के निमित्त से दूर रहना घटित होता है। क्षण-क्षण में, प्रसंग-प्रसंग में और निमित्त-निमित्त में स्वदशा के प्रति उपयोग देना घटित होता है। (113)

- जन्म से जिन्हें मति, श्रुत और अवधि—ये तीन ज्ञान थे, और आत्मोपयोगी ऐसी वैराग्यदशा थी, अल्पकाल में भोगकर्म क्षीण करके संयम को ग्रहण करने पर मनःपर्यय नाम का ज्ञान पाये थे, ऐसे श्रीमद् महावीरस्वामी, वे भी बारह वर्ष और साढ़े छह महीने तक मौनरूप से विचरे। इस प्रकार का उनका प्रवर्तन, वह उपदेशमार्ग प्रवर्ताते हुए किसी भी जीव को अत्यन्तरूप से विचारकर प्रवर्तानेयोग्य है, ऐसी अखण्ड शिक्षा प्रतिबोधते हैं। तथा जिन जैसों ने जिस प्रतिबन्ध की निवृत्ति के लिये प्रयत्न किया, उस प्रतिबन्ध में अजागृत रहना योग्य किसी जीव को नहीं होता, ऐसा बतलाया है तथा अनन्त आत्मार्थ का उस प्रवर्तन से प्रकाश किया है; जिस प्रकार के प्रति विचार का स्थिरपना वर्तता है, वर्तना घटित होता है। (114)

- हे मुमुक्षु! एक आत्मा को जानने से समस्त लोकालोक को जानेगा और सर्व जानने का फल एक आत्मप्राप्ति है, इसलिए आत्मा से पृथक् ऐसे दूसरे भाव जानने की बारम्बार की इच्छा से तू निवर्त और एक निजस्वरूप में दृष्टि दे कि जिस दृष्टि से समस्त सृष्टि ज्ञेयरूप से तुझमें दिखाई देगी। तत्वस्वरूप ऐसे सत्शास्त्र में कहे हुए मार्ग का भी यह तत्त्व है, ऐसा तत्त्वज्ञानियों ने कहा है, तथापि उपयोगपूर्वक यह समझना दुर्लभ है। यह मार्ग अलग है और उसका स्वरूप अलग है, जैसे मात्र कथन ज्ञानी कहते हैं, ऐसा नहीं, इसलिए जगह-जगह जाकर क्यों पूछता है ? क्योंकि उस अपूर्व भाव का अर्थ जगह-जगह से प्राप्त होनेयोग्य नहीं है। (115)

- निमित्त से जिसे हर्ष होता है, निमित्त से जिसे शोक होता है, निमित्त से जिसे इन्द्रियजन्य विषय के प्रति आकर्षण होता है, निमित्त से जिसे इन्द्रिय के प्रतिकूल ऐसे प्रकारों में द्वेष होता है, निमित्त से जिसे उत्कर्ष आता है, निमित्त से जिसे कषाय

उद्भवित होती है, ऐसे जीव को जितना बने, उतना उन-उन निमित्तवासी जीवों का संग त्यागना उचित है और नित्यप्रति सत्संग करना योग्य है। (116)

- अनादि से विपरीत अभ्यास है, इसलिए वैराग्य-उपशमादि भावों की परिणति एकदम नहीं हो सकती, अथवा होना कठिन पड़ती है, तथापि निरन्तर उन भावों के प्रति लक्ष्य रखने से अवश्य सिद्धि होती है। समागम का योग न हो, तब वे भाव जिस प्रकार से वर्धमान हों, उस प्रकार के द्रव्य-क्षेत्रादि उपासना, सत्शास्त्र का परिचय करना योग्य है। सब कार्य की प्रथम भूमिका विकट होती है, तो अनन्त काल से अनभ्यस्त ऐसी मुमुक्षुता के लिये वैसा हो, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। (117)
- 'देखतभूली टले तो सर्व दुःख का क्षय हो' ऐसा स्पष्ट अनुभव होता है, ऐसा होने पर भी उसी देखतभूली के प्रवाह में ही जीव बह जाता है, ऐसे जीवों को इस जगत में कोई ऐसा आधार है कि जिस आधार से, आश्रय से वह प्रवाह में न बहे? (118)
- अगम अगोचर निर्वाणमार्ग है, उसमें संशय नहीं। अपनी शक्ति से, सद्गुरु के आश्रय बिना, वह मार्ग शोधना अशक्य है—ऐसा बारम्बार दिखाई देता है; इतना ही नहीं परन्तु श्री सद्गुरुचरण के आश्रय से बोधबीज की प्राप्ति हुई हो, ऐसे पुरुष को भी सद्गुरु के समागम का आराधन नित्य कर्तव्य है। जगत के प्रसंग देखने पर ऐसा ज्ञात होता है कि वैसे समागम और आश्रय बिना निरालम्ब बोध स्थिर रहना विकट है। (119)
- दृश्य को अदृश्य किया और अदृश्य को दृश्य किया, ऐसा ज्ञानीपुरुषों का आश्चर्यकारक अनन्त ऐश्वर्य वीर्य वाणी से कहा जा सकना योग्य नहीं है। (120)
- गया हुआ एक पल भी वापस नहीं मिलता और वह अमूल्य है, तो फिर पूरी आयुष्य स्थिति!

  एक पल का हीन उपयोग, वह एक अमूल्य कौस्तुभ खोने से भी विशेष हानिकारक है, तो वैसे साठ पल की एक घड़ी का हीन उपयोग करने से कितनी हानि होनी चाहिए? इसी तरह एक दिन, एक पक्ष, एक मास, एक वर्ष और अनुक्रम से पूरी आयुष्य स्थिति का हीन उपयोग, वह कितनी हानि और कितने अश्रेय का कारण

होगा, यह विचार शुक्ल हृदय से तुरन्त आ सकेगा। सुख और आनन्द, यह सर्व प्राणी, सर्व जीव, सर्व सत्व और सर्व जन्तु को निरन्तर प्रिय है, तथापि दु:ख भोगता है, इसका क्या कारण होना चाहिए?—अज्ञान और उसके द्वारा जिन्दगी का हीन उपयोग। हीन उपयोग होना रोकने के लिये प्रत्येक प्राणी की इच्छा होनी चाहिए, परन्तु वह किस साधन द्वारा? (121)

- सर्व प्रकार के भय को रहने के स्थानकरूप ऐसे इस संसार में मात्र एक वैराग्य ही अभय है। इस निश्चय में तीनों काल में शंका होनेयोग्य नहीं है। (122)
- उत्कृष्ट सम्पत्ति का ठिकाना जो चक्रवर्त्यादि पद, वह सर्व अनित्य देखकर विचारवान पुरुष उन्हें छोड़कर चल निकले हैं अथवा प्रारब्धोदय वास हुआ तो भी अमूर्छितरूप से और उदासीनपने उसे प्रारब्धोदय समझकर वर्ते हैं और त्याग का लक्ष्य रखा है। (123)
- जिन पुरुषों की अन्तर्मुख दृष्टि हुई है, उन पुरुषों को भी सतत जागृतिरूप शिक्षा श्री वीतराग ने कही है, क्योंकि अनन्त काल के अध्यास-वाले पदार्थों का संग है, वह कुछ भी दृष्टि को आकर्षित करे, ऐसा भय रखने योग्य है। ऐसी भूमिका में इस प्रकार से शिक्षा उचित है, ऐसा है तो फिर विचारदशा जिसकी है, ऐसे मुमुक्षु जीव को सतत जागृति रखना उचित है, ऐसा कहने में न आया हो तो भी स्पष्ट समझा जा सकता है, ऐसा है कि मुमुक्षु जीव ने जिस-जिस प्रकार से पर अध्याय होनेयोग्य पदार्थादि का त्याग हो, उस-उस प्रकार से अवश्य करनायोग्य है। यद्यपि आरम्भपरिग्रह का त्याग वह स्थूल दिखता है, तथापि अन्तर्मुखवृत्ति का हेतु होने से बारम्बार उसका त्याग उपदेशा है। (124)
- जो-जो समझे उन-उन ने मेरा-तेरा यह आदि अहंत्व, ममत्व शमन कर दिया है; क्योंकि कोई भी निजस्वभाव वैसा दिखा नहीं और निजस्वभाव तो अचिन्त्य अव्याबाधस्वरूप, केवल न्यारा देखा, इसलिए उसमें ही समावेश पा गये।

आत्मा के अतिरिक्त अन्य में स्वमान्यता थी, उसे टालकर परमार्थ से मौन हुए; वाणी से यह इसका है, यह इत्यादि कहने का बननेरूप व्यवहार, वचनादि योग तक

क्वचित् रहा, तथापि आत्मा से यह मेरा है, यह विकल्प केवल शमन हो गया; जैसा है, वैसे अचिन्त्य स्वानुभवगोचर पद में लीनता हुई। (125)

- अनन्त ज्ञानी पुरुषों ने अनुभव किया हुआ ऐसा शाश्वत् सुगम मोक्षमार्ग जीव को लक्ष्य में नहीं आता, इससे उत्पन्न हुआ खेदसहित आश्चर्य, वह भी यहाँ शमन करते हैं। सत्संग, सद्‌विचार से शमन तक के सर्व पद अत्यन्त सच्चे हैं, सुगम हैं, सुगोचर हैं, सहज हैं और नि:सन्देह हैं। (126)
- आत्मार्थ के अतिरिक्त शास्त्र की जिस-जिस प्रकार से जीव ने मान्यता करके, कृतार्थता मानी है, वह सर्व 'शास्त्रीय अभिनिवेश' है। स्वच्छन्दता टाली नहीं और सत्समागम का योग प्राप्त हुआ है, उस योग में भी स्वच्छन्द के निर्वाह के लिये शास्त्र के किसी एक वचन को बहुवचन जैसा बतलाकर, है मुख्य साधन ऐसे सत्समागम, उसके समान या उससे विशेष भार शास्त्र के प्रति रखता है, उस जीव को भी 'अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश' है। आत्मा समझने के लिये शास्त्र उपकारी हैं और वह भी स्वच्छन्दरहित पुरुष को; इतना लक्ष्य रखकर सत्शास्त्र विचारा जाये तो वह 'शास्त्रीय अभिनिवेश' गिननेयोग्य नहीं है। (127)
- असंग ऐसा आत्मस्वरूप सत्संग के योग से सबसे सुलभरूप से ज्ञात होनेयोग्य है, इसमें संशय नहीं। सत्संग का माहात्म्य सर्व ज्ञानी पुरुषों ने अतिशय कर कहा है, वह यथार्थ है। उसमें विचारवान को किसी प्रकार से विकल्प होनायोग्य नहीं है। (128)
- ज्ञानी की वाणी पूर्वापर अविरोध, आत्मार्थ उपदेशक, अपूर्व अर्थ का निरूपण करनेवाली होती है और अनुभवसहितपना होने से आत्म को सतत् जागृत करनेवाली होती है। शुष्कज्ञानी की वाणी में तथारूप गुण नहीं होते; सर्व से उत्कृष्ट गुण जो पूर्वापर अविरोधपना, वह शुष्कज्ञानी की वाणी में वर्तनेयोग्य नहीं है। क्योंकि यथास्थित पदार्थ-दर्शन उसे नहीं होता और इसलिए, जगह-जगह कल्पना से युक्त उसकी वाणी होती है। (129)
- पूर्व काल में ज्ञानी हो गये हों और मात्र उनकी मुखवाणी रही हो तो भी वर्तमान

काल में ज्ञानी पुरुष ऐसा जान सकते हैं कि यह वाणी ज्ञानी पुरुष की है; क्योंकि रात्रि-दिन के भेद की भाँति अज्ञानी-ज्ञानी की वाणी में आशय भेद होता है और आत्मदशा के तारतम्य प्रमाण आशयवाली वाणी निकलती है और आशय, वाणी से 'वर्तमान ज्ञानी पुरुष' को स्वाभाविक दृष्टिगोचर होता है और कहनेवाले पुरुष की दशा का तारतम्य लक्ष्यगत होता है। यहाँ जो 'वर्तमान ज्ञानी' शब्द लिखा है, वह कोई विशेष प्रज्ञावन्त, प्रगट बोधबीजसहित पुरुष शब्द के अर्थ में लिखा है। ज्ञानी के वचनों की परीक्षा सर्व जीवों को सुलभ हो तो निर्वाण भी सुलभ ही होता। (130)

- वर्तमान में विद्यमान वीर का मार्ग भूलकर, भूतकाल की भ्रमणा में वीर को शोधने के लिये भटकते जीवों को श्री महावीर का दर्शन कहाँ से होगा?

  ओ दुषमकाल के दुर्भागी जीवो! भूतकाल की भ्रमणा को छोड़कर वर्तमान में विद्यमान ऐसे महावीर की शरण में आओ तो तुम्हारा श्रेय ही है।

  संसार के ताप से त्रास प्राप्त और कर्मबन्धन से मुक्त होने को इच्छुक परमार्थप्रेमी जिज्ञासु जीवों की त्रिविध तापाग्नि को शान्त करने के लिये हम अमृतसागर हैं।

  मुमुक्षु जीवों का कल्याण करने के लिये हम कल्पवृक्ष ही हैं। अधिक क्या कहें? इस विषम काल में परम शान्ति के धामरूप हम दूसरे श्रीराम अथवा श्री महावीर ही हैं। क्योंकि हम परमात्मस्वरूप हुए हैं।

  यह अन्तर अनुभव परमात्मपने की मान्यता के अभिमान से उद्भवित लिखा नहीं है, परन्तु कर्मबन्धन से दुःखी होते जगत के जीवों की परम कारुण्यवृत्ति होने से उनका कल्याण करने की तथा उनका उद्धार करने की निष्कारण करुणा, वही इस हृदयचितार प्रदर्शित करने की प्रेरणा करता है। (131)

- इस जीव को देहसम्बन्ध होकर मृत्य न हो तो यह संसार सिवाय अन्यत्र इसकी वृत्ति जुड़ाने का अभिप्राय नहीं होता। मुख्य करके मृत्यु के भय से परमार्थरूप दूसरे स्थानक में वृत्ति प्रेरी है, वह भी कुछ विरले जीवों को प्रेरित हुई है, बहुत जीवों को तो बाह्य निमित्त से मृत्युभय, पर से बाह्य क्षणिक वैराग्य प्राप्त होकर विशेष कार्यकारी

हुए बिना नाश पाती है; मात्र कुछ विचारवान अथवा सुलभबोधि या हलुकर्मी जीव को वह भय पर से अविनाशी निःश्रेयस पद के प्रति वृत्ति होती है। (132)

- मैं देहादिस्वरूप नहीं और देह, स्त्री, पुत्रादि कोई भी मेरे नहीं; मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप अविनाशी ऐसा मैं आत्मा हूँ, ऐसी आत्मभावना करने से राग-द्वेष का क्षय होता है। (133)
- जिसे मृत्यु के साथ मित्रता हो अथवा जो मृत्यु से भागकर छूट सके ऐसा हो, अथवा मैं मरूँगा ही नहीं, ऐसा जिसे निश्चय हो, वह भले सुख से सोये। (134)
- ज्ञानमार्ग दुराराध्य है; परमावगाढदशा पाने से पहले उस मार्ग में पड़ने के बहुत स्थान हैं। सन्देह, विकल्प, स्वच्छन्दता, अतिपरिणामीपना यह आदि कारण बारम्बार जीव को उस मार्ग में पड़ने के हेतु होते हैं, अथवा ऊर्ध्वभूमिका प्राप्त होने नहीं देते। (135)
- शरीर किसका है?—मोह का है, इसलिए असंगभावना रखना योग्य है। (136)
- विचारवान पुरुष तो कैवल्यदशा होने तक मृत्यु को नित्य समीप ही समझकर प्रवर्तते हैं। (137)
- अनेकान्तिकमार्ग भी सम्यक् एकान्त ऐसे निजपद की प्राप्ति कराने के अतिरिक्त अन्य हेतु से उपकारी नहीं। (138)
- लौकिकदृष्टि और अलौकिक (लोकोत्तर) दृष्टि में बड़ा भेद है, अथवा एक दूसरी दृष्टि परस्पर विरुद्ध स्वभाववाली है। लौकिकदृष्टि में व्यवहार (सांसारिक कारण) का मुख्यपना है, और अलौकिकदृष्टि में परमार्थ का मुख्यपना है। इसलिए, अलौकिकदृष्टि को लौकिकदृष्टि के फल के साथ प्रायः मिलाना योग्य नहीं है। (139)
- आत्मा है। आत्मा अत्यन्त प्रगट है, क्योंकि स्वसंवेदन प्रगट अनुभव में है। (140)
- बहुत जगह विचारवान पुरुषों ने ऐसा कहा है कि ज्ञान होने पर काम, क्रोध, तृष्णादि भाव निर्मूल होते हैं, यह सत्य है, तथापि उन वचनों का ऐसा परमार्थ नहीं है कि ज्ञान होने पर प्रथम वे शिथिल न पड़ें या कम न हो। मूलसहित छेद तो ज्ञान से ही

होता है, परन्तु कषायादि की शिथिलता या न्यूनता न हो, तब तक ज्ञान प्रायः उत्पन्न ही नहीं होता। ज्ञान प्राप्त होने में विचार मुख्य साधन है और उस विचार को वैराग्य तथा उपशम दो मुख्य आधार हैं, ऐसा जानकर उसका निरन्तर लक्ष्य रखकर वैसी परिणति करना योग्य है। (141)

- महामुश्किल से आजीविका चलती हो तो भी मुमुक्षु को यह बहुत है, क्योंकि विशेष का कुछ अवश्य उपयोग नहीं, ऐसा जब तक निश्चय में न लाया जाये, तब तक तृष्णा नाना प्रकार से आवरण किया करती है। लौकिक विशेषता में कुछ सारभूतता नहीं, ऐसा निश्चय करने में आवे तो मुश्किल से आजीविका जितना मिलता हो, तो भी तृप्ति रहती है। मुश्किल से आजीविका जितनी मिलता न हो तो भी मुमुक्षु जीव आर्तध्यान प्रायः होने न दे अथवा होने पर उस पर विशेष खेद कर और आजीविका में टूटता यथाधन उपार्जन करने की मन्द कल्पना करे, इन आदि प्रकार से वर्तने से तृष्णा का पराभव यथायोग्य दिखाई देता है। (142)
- जहाँ तक अल्प उपाधिवाले क्षेत्र में आजीविका चलती हो, वहाँ तक विशेष प्राप्त करने की कल्पना से मुमुक्षु को कोई एक विशेष अलौकिक हेतु बिना अधिक उपाधिवाले क्षेत्र में जाना उचित नहीं, क्योंकि इससे बहुत सद्वृत्तियाँ शिथिल पड़ जाती हैं अथवा वर्धमान नहीं होती। (143)
- अनियमित और अल्प आयुष्यवाले इस देह में आत्मार्थ का लक्ष्य सबसे प्रथम कर्तव्य है। (144)
- जिसे-जिसे सद्गुरु में तथा उनकी दशा में विशेषपना दिखा है, उसे-उसे प्रायः करके अहंभाव तथारूप प्रसंग जैसे प्रसंगों में उदय नहीं होता; अथवा तुरन्त शमन हो जाता है। उस अहंभाव को यदि पहले से जहर जैसा प्रतीत किया हो, तो पूर्वापर उसका सम्भव अल्प होता है। कुछ अन्तर में चातुर्यादि भाव से मिठास सूक्ष्मपरिणति से भी रखी हो, तो वह पूर्वापर विशेषता पाती है, परन्तु जहर ही है, निश्चय जहर ही है, वह प्रगट कालकूट जहर है, उसमें किसी प्रकार से संशय नहीं और संशय हो तो वह संशय मानना नहीं, उस संशय को अज्ञान ही जानना है। ऐसी तीव्र खाराश

कर दी हो तो वह अहंभाव प्रायः बल नहीं कर सकता। उस अहंभाव को रोकने से निरहंमभाव होकर उसका वापस अहंभाव हो आने का बनता है, वह भी पूर्व में जहर... जहर... और जहर मानकर रख वर्ताया हो तो आत्मार्थ को व्यवधान नहीं आता। (वाँचनकार को अनुलक्ष्य कर यह सावधानी दी है)। (145)

- सत्पुरुष की आज्ञा में वर्तने का जिसका दृढ़ निश्चय वर्तता है और जो उस निश्चय को आराधता है, उसे ही ज्ञान सम्यक्परिणामी होता है, यह बात आत्मार्थी जीव को अवश्य लक्ष्य में रखनायोग्य है। हमने जो यह वचन लिखे हैं, उसके सर्व ज्ञानी पुरुष साक्षी हैं। (146)
- अनन्त बार देह के लिये आत्मा को गलाया है। जो देह आत्मा के लिये गलायेगा, उस देह से आत्मविचार, जन्म पानेयोग्य जानकर, सर्व देहार्थ की कल्पना छोड़कर, एकमात्र आत्मार्थ में ही उसका उपयोग करना, ऐसा मुमुक्षु जीव को अवश्य निश्चय चाहिए। (147)
- जो ज्ञान महा निर्जरा का हेतु होता है, वह ज्ञान अनधिकारी जीव के हाथ में जाने से प्रायः उसे अहितकारी होकर परिणमता है। (148)
- शरीर में वेदनीय का असातारूप से परिणमना हुआ हो, उस समय शरीर का विपरिणामी स्वभाव विचारकर उस शरीर और शरीर के सम्बन्ध से प्राप्त हुए स्त्री-पुत्रादि के प्रति का मोह विचारवान पुरुष छोड़ देते हैं अथवा उस मोह को मन्द करने में प्रवर्तते हैं। (149)
- लोक की दृष्टि को जब तक यह जीव वमन न करे तथा उसमें से अन्तर्वृत्ति पृथक् न हो जाये, तब तक ज्ञानी की दृष्टि का वास्तविक माहात्म्य लक्ष्यगत नहीं हो सकता, इसमें संशय नहीं है। (150)
- ज्ञानियों ने मनुष्यपना चिन्तामणिरत्नतुल्य कहा है, यह विचारो तो प्रत्यक्ष ज्ञात हो ऐसा है। विशेष विचारने से तो उस मनुष्यपने का एक समय भी चिन्तामणिरत्न से परम माहात्म्यवान और मूल्यवान दिखता है और जो देहार्थ में ही यह मनुष्यपना

व्यतीत हुआ, तब तो एक फूटी बादाम की कीमत का नहीं, ऐसा निःसन्देह दिखता है। (151)

- यदि सफलता का मार्ग समझ में आये तो इस मनुष्यदेह का एक समय भी सर्वोत्कृष्ट चिन्तामणि है, इसमें संशय नहीं है। (152)
- लौकिक कारणों में अधिक हर्ष-विषाद मुमुक्षु जीव करता नहीं। (153)
- देह का और प्रारब्धोदय जब तक बलवान हो, तब तक देहसम्बन्धी कुटुम्ब, कि जिसका भरणपोषण करने का सम्बन्ध छूटे, ऐसा नहीं होता अर्थात् आगारवासपर्यन्त जिनका भरणपोषण करना पड़ता हो, उसका भरणपोषण मात्र मिलता हो तो उसमें सन्तोष पाकर मुमुक्षु जीव आत्महित का ही विचार करे तथा पुरुषार्थ करे। देह और देहसम्बन्धी परिवार के माहात्म्यादि के लिये परिग्रहादि की परिणामपूर्वक स्मृति भी न होने दे; क्योंकि वह परिग्रहादि की प्राप्ति आदि कार्य ऐसे हैं कि आत्महित का अवसर ही प्रायः प्राप्त नहीं होने देते। (154)
- आयुष्य अल्प और अनियत प्रवृत्ति, असीम बलवान असत्संग, पूर्व का प्रायः अनाराधकपना, बलवीर्य की हीनता, ऐसे कारणों से रहित कोई ही जीव होगा, ऐसे इस काल में पूर्व में कभी भी नहीं जाना हुआ, नहीं प्रतीत किया हुआ, नहीं आराधा हुआ तथा नहीं स्वभावसिद्ध हुआ ऐसा 'मार्ग' प्राप्त करना दुष्कर हो, इसमें आश्चर्य नहीं है; तथापि जिसे यह प्राप्त करने के अतिरिक्त दूसरा कोई लक्ष्य रखा ही नहीं, वह इस काल में भी अवश्य इस मार्ग को पाता है। (155)
- सर्व देहधारी जीव मरण के समक्ष शरणरहित हैं। मात्र उस देह का स्वरूप प्रथम से यथार्थ जानकर उसका ममत्व छेदकर निजस्थिरता को अथवा ज्ञानी के मार्ग की यथार्थ प्रतीति को पाये हैं, वे ही जीव उस मरणकाल में शरणसहित तथापि प्रायः फिर से देह धारण करते नहीं, अथवा मरणकाल में देह के ममत्वभाव का अल्पत्व होने से भी निर्भय वर्तते हैं। देह छूटने का काल अनियत होने से विचारवान पुरुष अप्रमादरूप से प्रथम से ही उसका ममत्व निवृत्त करने का अविरुद्ध उपाय साधते हैं और वही तुम्हारे, हमारे, सबको लक्ष्य रखनेयोग्य है। प्रीतिबन्धन से खेद होनेयोग्य

है, तथापि उसमें दूसरा कोई उपाय नहीं होने से उस खेद को वैराग्यस्वरूप में परिणमन करना, वही विचारवान को कर्तव्य है। (156)

- लोकदृष्टि में जो-जो बातें या वस्तुएँ बड़प्पनवाली मानी जाती हैं, वे-वे बातें और वस्तुयें शोभायमान गृहादि आरम्भ, अलंकारादि परिग्रह, लोकदृष्टि का विचक्षणपना, लोकमान्य धर्मश्रद्धावानपना, प्रत्यक्ष जहर का ग्रहण है—ऐसा यथार्थ ज्ञात हुए बिना धारते हो, उस वृत्ति का लक्ष्य नहीं होता। प्रथम इन बातों और वस्तुओं के प्रति जहरदृष्टि आनी कठिन देखकर, कायर न होकर पुरुषार्थ करना योग्य है। (157)
- मुमुक्षु को पूर्वोपार्जित शुभाशुभकर्मानुसार आजीविकादि प्राप्त होगी, ऐसा विचारकर मात्र निमित्तरूप प्रयत्न करना उचित है, परन्तु भयाकुल होकर चिन्ता या न्याय-त्याग करना उचित नहीं, क्योंकि प्राप्ति शुभाशुभ प्रारब्धानुसार है, प्रयत्न व्यवहारिक निमित्त है, इसलिए करना उचित है, परन्तु चिन्ता तो मात्र आत्मगुणरोधक है। (158)
- उत्कृष्ट में उत्कृष्ट व्रत, उत्कृष्ट में उत्कृष्ट तप, उत्कृष्ट में उत्कृष्ट नियम, उत्कृष्ट में उत्कृष्ट लब्धि, उत्कृष्ट में उत्कृष्ट ऐश्वर्य, यह जिसमें सहज समाते हैं—ऐसे निरपेक्ष अविषम उपकार को नमस्कार! यह ही ध्यान! (159)
- राग-द्वेष के प्रत्यक्ष बलवान निमित्त प्राप्त होने पर भी जिसका आत्मभाव किंचित्मात्र भी क्षोभ नहीं पाता, उस ज्ञानी के ज्ञान का विचार करने से भी महानिर्जरा होती है, इसमें संशय नहीं है। (160)
- आरम्भ और परिग्रह का इच्छापूर्वक प्रसंग होवे तो आत्मलाभ को विशेष घातक है, और बारम्बार अस्थिर, अप्रशस्त परिणाम का हेतु है, इसमें तो संशय नहीं; परन्तु जहाँ अनिच्छा से उदय के कोई एक योग से प्रसंग वर्तता हो, वहाँ भी आत्मभावना उत्कृष्टपने को बाधा करनेवाली और आत्मस्थिरता को अन्तराय करनेवाले, उन आरम्भ-परिग्रह का प्रसंग प्रायः होता है। इसलिए परम कृपालु ज्ञानी पुरुषों ने त्यागमार्ग का उपदेश किया है, वह मुमुक्षु जीव को एकदेश और सर्वथा अनुसरनेयोग्य है। (161)
- कोई पुरुष स्वयं विशेष सदाचार में तथा संयम में प्रवर्तता है, उसके समागम में

आना चाहनेवाले जीवों को उस पद्धति के अवलोकन से जैसा सदाचार तथा संयम का लाभ होता है, वैसा लाभ विस्तारवाले उपदेश से भी प्रायः नहीं होता, यह लक्ष्य रखनेयोग्य है। (162)

- 'मोहनीय' का स्वरूप इस जीव को बारम्बार अत्यन्त विचारनेयोग्य है। मोहनीय ने महा मुनिश्वरों को भी पल में उसके पाश में फँसाकर अत्यन्त ऋद्धि-सिद्धि से विमुक्त कर दिया है, शाश्वत् सुख छीनकर क्षणभंगुरता में ललचाकर भटकाया है।

  निर्विकल्प स्थिति लाना, आत्मस्वभाव में रमणता करना, मात्र दृष्टाभाव से रहना, ऐसा ज्ञानी का जगह-जगह बोध है; वह बोध यथार्थ प्राप्त होने पर इस जीव का कल्याण होता है। (163)

- श्रुत अल्प रहे होने पर भी, मतमतान्तर बहुत होने पर भी, समाधान के कितने ही साधन परोक्ष होने पर भी, महात्मापुरुषों का क्वचितत्व तथापि, हे आर्यजनों! सम्यग्दर्शन, श्रुत का रहस्य ऐसा परमपद का पंथ, आत्मानुभव के हेतु, सम्यक् चारित्र और विशुद्ध आत्मध्यान आज भी विद्यमान है, यह परम हर्ष का कारण है। (164)

- सर्व जीव को हितकारी ऐसी ज्ञानी पुरुष की वाणी को कुछ भी एकान्त दृष्टि से ग्रहण करके अहितकारी अर्थ में उतारना नहीं, यह उपयोग निरन्तर स्मरण में रखनेयोग्य है। (165)

- अटल अनुभवस्वरूप आत्मा सर्व द्रव्य से प्रत्यक्ष भिन्न भासित होना, यहाँ से मुक्तदशा वर्तती है, वह पुरुष मौन होता है, वह पुरुष अप्रतिबद्ध होता है, वह पुरुष असंग होता है, वह पुरुष निर्विकल्प होता है और वह पुरुष मुक्त होता है। (166)

- परमयोगी ऐसे श्री ऋषभदेवादि पुरुष भी जिस देह को रख सके नहीं, उस देह में एक विशेषपना रहा है, वह यह कि उसका सम्बन्ध वर्ते, तब तक में जीव को असंगपना, निर्मोहपना करके अबाध्य अनुभवस्वरूप ऐसा निजस्वरूप जानकर, दूसरे सब भाव के प्रति व्यावृत्त (पृथक्) होना कि जिससे फिर जन्म-मरण का चक्र न रहे। यह देह छोड़ते समय जितने अंश में असंगपना, निर्मोहपना, यथार्थ समरसपना

रहता है, उतना मोक्षपद नजदीक है, ऐसा परम ज्ञानी पुरुषों का निश्चय है। (167)

- सर्व जीवों के प्रति, सर्व भावों के प्रति अखण्ड एकरस वीतरागदशा रखना, वही सर्व ज्ञान का फल है। आत्मा शुद्ध चैतन्य जन्म-जरा-मरणरहित असंगस्वरूप है; उसमें सर्व ज्ञान समाहित है; उसकी प्रतीति में सर्व सम्यग्दर्शन समाहित है। आत्मा को असंगस्वरूप से स्वभावदशा रहे, वह सम्यक्चारित्र, उत्कृष्ट संयम और वीतरागदशा है। जिसके सम्पूर्णपने का फल सर्व दुःख का क्षय है, यह केवल निःसन्देह है... केवल निःसन्देह है! (168)
- लोकसंज्ञा जिसकी जिन्दगी का ध्रुव काँटा है, वह जिन्दगी चाहे जितनी श्रीमन्तता, सत्ता या कुटुम्ब-परिवारादि योगवाली हो, तो भी वह दुःख का ही हेतु है। आत्मशान्ति जिस जिन्दगी का ध्रुव काँटा है, वह जिन्दगी चाहे तो एकाकी और निर्धन, निर्वस्त्र हो तो भी परमसमाधि का स्थान है। (169)
- केवल अन्तर्मुख होने का सत्पुरुषों का मार्ग सर्व दुःखक्षय का उपाय है, परन्तु वह किसी जीव को समझ में आता है। महत् पुण्य के योग से, विशुद्ध मति से, तीव्र वैराग्य से और सत्पुरुष के समागम से वह उपाय समझनेयोग्य है, उसे समझने का अवसर एकमात्र यह मनुष्यदेह है, वह भी अनियमित काल के भय से गृहीत है; वहाँ प्रमाद होता है, वह खेद और आश्चर्य है! (170)
- लोकदृष्टि और ज्ञानी की दृष्टि को पश्चिम और पूर्व जितना अन्तर है। ज्ञानी की दृष्टि प्रथम निरालम्बन है, रुचि उत्पन्न करती नहीं, जीव की प्रकृति को मिलान नहीं खाती, इसलिए जीव उस दृष्टि में रुचिवान नहीं होता, परन्तु जिन जीवों ने परीषह सहनकर थोड़े काल तक उस दृष्टि का आराधन किया है, वह सर्व दुःख के क्षयरूप निर्वाण को प्राप्त हुए हैं; उसके उपाय को प्राप्त हुए हैं। (171)
- मुमुक्षुपना जिसमें दृढ़ हो, वैसा करो; हारने का अथवा निराश होने का कोई हेतु नहीं है। दुर्लभ योग जीव को प्राप्त हुआ तो फिर थोड़ा सा प्रमाद छोड़ देने में जीव को उलझन जैसा अथवा निराश होने जैसा कुछ है ही नहीं। (172)
- सर्व जगत के जीव कुछ न कुछ प्राप्त करके सुख प्राप्त करना चाहते हैं; बड़ा चक्रवर्ती

राजा, वह भी बढ़ते वैभव, परिग्रह के संकल्प में प्रयत्नवान है और प्राप्त करने में सुख मानता है; परन्तु अहो! ज्ञानियों ने तो इससे विपरीत ही सुख का मार्ग निर्णीत किया कि किंचित् मात्र भी ग्रहण करना, वही सुख का नाश है। (173)

- देह के प्रति जैसा वस्त्र का सम्बन्ध है, वैसा आत्मा के प्रति जिसे देह का सम्बन्ध यथातथ्य दिखाई दिया है, म्यान के प्रति तलवार का जैसा सम्बन्ध है, वैसा देह के प्रति जिसे आत्मा का सम्बन्ध दिखाई दिया है, अबद्धस्पृष्ट आत्मा जिसने अनुभव किया है, उन महापुरुषों को जीवन और मरण दोनों समान है। (174)
- देहादि सम्बन्धी जो पुरुष हर्ष-विषाद नहीं करते, वे पुरुष पूर्ण द्वादशांग को संक्षेप में समझे है, ऐसा समझो। वही दृष्टि कर्तव्य है। (175)
- मेरी चित्तवृत्ति इतनी शान्त हो जाओ कि कोई वृद्ध मृग जिसके सिर में खुजली आती हो, वह इस शरीर को जड़पदार्थ जानकर अपना सिर खुजली मिटाने के लिये इस शरीर से घिसे! (176)
- जैसे बने वैसे वीतरागश्रुत का अनुप्रेक्षण (चिन्तवन) विशेष कर्तव्य है। प्रमाद परम रिपु है; यह वचन जिसे सम्यक् निश्चित हुआ है, वे पुरुष कृतकृत्य होने तक निर्भयरूप से वर्तने का स्वप्न भी इच्छते नहीं। (177)
- जिज्ञासाबल, विचारबल, वैराग्यबल, ध्यानबल और ज्ञानबल वर्धमान होने के लिये आत्मार्थी जीव को तथारूप ज्ञानी पुरुष का समागम विशेषतः उपासनायोग्य है। उसमें भी वर्तमान काल के जीवों को उस बल की दृढ़ छाप पड़ जाने के लिये बहुत अन्तराय देखने में आते हैं, जिससे तथारूप शुद्ध जिज्ञासुवृत्ति से दीर्घकालपर्यन्त सत्समागम उपासने की आवश्यकता रहती है। सत्समागम के अभाव में वीतरागश्रुत— परमशान्त रस प्रतिपादक वीतराग वचनों की अनुप्रेक्षा बारम्बार कर्तव्य है। चित्तस्थैर्य के लिये वह परम औषध है। (178)
- आत्मार्थी को बोध कब परिणम सकता है, यह भाव स्थिर चित्त से विचार करनेयोग्य है, जो मूलभूत है।

  अमुक असद्वृत्तियों का प्रथम अवश्य निरोध करना योग्य है। जिस निरोध के

हेतु को दृढ़ता से अनुसरण करना ही चाहिए, उसमें प्रमाद योग्य नहीं है। (179)

- हे आर्य! द्रव्यानुयोग का फल सर्वभाव से विराम पानेरूप संयम है, वह इस पुरुष के वचन तेरे अन्तःकरण में तू किसी दिन शिथिल करना नहीं। अधिक क्या? समाधि का रहस्य यही है, सर्व दुःख से मुक्त होने का अनन्य उपाय यही है। (180)
- जैसे-जैसे इन्द्रियनिग्रह, जैसे-जैसे निवृत्तियोग, वैसे-वैसे वह सत्समागम और सत्शास्त्र अधिक-अधिक उपकारी होते हैं। (181)
- साता-असाता का उदय या अनुभव प्राप्त होने में मूल कारणों को खोजते हुए ऐसे इन महत् पुरुषों को ऐसी विलक्षण सानन्दाश्चर्यवृत्ति उद्‌भवित हुई कि साता की अपेक्षा असाता का उदय सम्प्राप्त होने पर और उसमें भी तीव्ररूप से वह उदय सम्प्राप्त होने पर उनका वीर्य विशेषरूप से जागृत होता था, उल्लास पाता था और वह समय कल्याणकारी अधिकरूप से समझ में आता था। (182)
- तथारूप महात्मा के एक आर्य वचन का सम्यक् प्रकार से अवधारण होने से यावत् मोक्ष हो, ऐसा श्रीमान तीर्थंकर ने कहा है, वह यथार्थ है। इस जीव में तथारूप योग्यता चाहिए। (183)
- चक्रवर्ती की समस्त सम्पत्ति से भी जिसका एक समयमात्र भी विशेष मूल्यवान है, ऐसा यह मनुष्यदेह और परमार्थ को अनुकूल ऐसा योग सम्प्राप्त होने पर भी, यदि जन्म-मरण से रहित ऐसे परमपद का ध्यान नहीं रहा तो इस मनुष्यत्व को अधिष्ठित ऐसे आत्मा को अनन्त बार धिक्कार हो! (184)
- चिन्तित जिससे प्राप्त हो, उस मणि को चिन्तामणि कहा है; वही यह मनुष्यदेह है कि जिस देह में, योग में आत्यन्तिक ऐसे सर्व दुःख के क्षय की चिन्तिता धारी तो पार पड़ता है।

  अचिन्त्य जिसका माहात्म्य है, ऐसा सत्संगरूपी कल्पवृक्ष प्राप्त होने पर जीव दरिद्र रहे, ऐसा हो तो इस जगत में यह ग्यारहवाँ आश्चर्य ही है। (185)
- जो स्वरूप है, वह अन्यथा नहीं होता, वही अद्‌भुत आश्चर्य है। (186)

- ज्ञानी जगत को तृणवत् गिनते हैं, यह उनके ज्ञान की महिमा समझना चाहिए। (187)
- इन्द्रिय के विषयोंरूप क्षेत्र की दो अंगुल जमीन जीतने को आत्मा असमर्थपना बतलाता है और पूरी पृथ्वी जीतने में समर्थपना धारता है, यह कैसा आश्चर्यरूप है! (188)
- अज्ञानी आज 'केवलज्ञान नहीं है', 'मोक्ष नहीं है' ऐसी हीन पुरुषार्थ की बातें करते हैं। ज्ञानी का वचन पुरुषार्थ प्रेरक होता है। अज्ञानी शिथिल है, इसलिए ऐसे हीन पुरुषार्थ के वचन कहता है। पंचम काल की भवस्थिति की, देहदुर्लभता की या आयुष्य की बात कभी भी मन में लाना नहीं; और कैसे होगा, ऐसी वाणी भी सुनना नहीं। (189)
- निर्धन कौन?—धन माँगे, इच्छे, वह निर्धन; जो न माँगे, वह धनवान है। जिसे विशेष लक्ष्मी की तृष्णा, उसकी दुःखधा, दाह है, उसे जरा भी सुख नहीं। लोग जानते हैं कि श्रीमन्त सुखी हैं। वस्तुतः उन्हें रोम-रोम में दाह है। इसलिए तृष्णा घटाना चाहिए। (190)
- पाँच कारण मिले, तब मुक्त होता है। वे पाँचों कारण पुरुषार्थ में रहे हैं। अनन्त चौथे काल मिलें, परन्तु यदि स्वयं पुरुषार्थ करे तो ही मुक्ति प्राप्त होती है। जीव ने अनन्त काल से पुरुषार्थ किया नहीं, सब खोटे आलम्बन लेकर मार्ग के आड़ें विघ्न डाले हैं। कल्याणवृत्ति उगे, तब भवस्थिति पकी जानना। सूरातन हो तो वर्ष का काम दो घड़ी में किया जा सकता है। (191)
- खारी जमीन हो और उसमें वर्षा पड़े तो क्या काम आवे! उसी प्रकार जब तक उपदेशवात आत्मा में परिणमे नहीं, ऐसी स्थिति हो, वहाँ तक वह किस काम की? जब तक उपदेशवात आत्मा में परिणमे नहीं वहाँ तक बारम्बार सुनना, विचार करना, उसका रास्ता छोड़ना नहीं, कायर होना नहीं; कायर होवे तो आत्मा ऊँचा आता नहीं। ज्ञान का अभ्यास जैसे बने वैसे बढ़ाना; अभ्यास रखना, उसमें कुटिलता या अहंकार रखना नहीं। (192)

- दृष्टिविष जाने के पश्चात् चाहे जो शास्त्र, चाहे जो अक्षर, चाहे जो वचन, चाहे जो स्थल प्राय: अहित का कारण नहीं होता। (193)
- बुद्धिबल से निश्चय किया हुआ सिद्धान्त, इससे विशेष बुद्धिबल अथवा तर्क से उस समय बदल सकता है, परन्तु जो वस्तु अनुभवगम्य (अनुभवसिद्ध) हुई है, वह तीन काल में बदल नहीं सकती। (194)
- 'हम समझे हैं', 'शान्त हैं' ऐसा कहता है, वह तो ठगाया है। (195)
- असाता के उदय में ज्ञान की कसौटी होती है। (196)
- परिणाम की धारा, वह 'थर्मामीटर' समान है। (197)
- जो दृढ़ निश्चय करे कि चाहे जैसे करूँ, जहर पीऊँ, पर्वत से गिरूँ, कुँए में गिरूँ, परन्तु कल्याण हो, वही करूँ। उसका जानपना सच्चा। वही तिरने का अभिलाषी कहलाता है। (198)

❋❋❋ ❋❋❋